जीवनादर्श

The happiness of self is the harmony of healthy body, refind feelings, well-informed intellect anda devoted spirit.

—*Moral Philosophy*

पं० ज्योतिःशरण (रतूड़ी) शर्म्मा

[गोदि] टिहरी, गढ़वाल,

हिमालय निवासी ने

सर्व-सामान्य के विचारार्थ निज अनुभव तथा प्रचलित व्यवहार के आधार पर निर्मित किया

तथा

पण्डित सुदर्शनाचार्य्य बी० ए० द्वारा 'सुदर्शन प्रेस', प्रयाग में मुद्रित करा कर प्रकाशित किया।

—:o:—

प्रथम वार] सन् १६१५ ई० [१००० प्रति

प्रस्तावना

प्रत्येक इन्द्रिय का धर्म है कि, उसके संशोधन के जो युक्त साधन होते हैं उनकी रगड़ विना वह सिद्ध नहीं होते हैं। प्रत्येक देहधारी के अपने ही शरीर से रोग तथा आरोग्य के भाव उत्पन्न होते हैं। स्वप्न की रचना तथा जाग्रत का विज्ञान अपने ही आप में उत्पन्न होते हैं। स्वप्न के लिये तमस् का साधन और जाग्रत के लिये सत्व गुण अपने ही भीतर से निकलते हैं; उस पुरुष की इच्छा पर यह निर्भर कहा जा सकता है कि वह सत्व अथवा तमस् जैसी सम्पत्ति को चाहे बढ़ा सकता है, जिस प्रकार प्रत्येक अवयव का पुष्ट होना, कृश होना अथवा भावानन्तरालम्बी होना पुरुष के उन साधनों पर निर्भर है, जो उन उन अवयवों के विशुद्ध वा बलिष्ठ करने के हेतु हैं।

मनस्थैर्य या मनोनिग्रह जिसको कहते हैं वह केवल सच्छास्त्रों के अध्ययन और उनके अनुष्ठान से प्राप्त होता है। यह विषय बार बार स्मरणीय है कि सच्छास्त्रानुभव भी केवल मन की ही विशुद्धता व मलिनता के कारण मनुष्य के लक्ष्य की प्राप्ति व अप्राप्तिकारक है, नेत्र की उज्ज्वलता विशुद्ध प्रकाश पर, वाणी का लालित्य शब्द-माधुर्य्य पर ही निर्भर है, एवं मन का पुष्ट तथा आरोग्य होना एक मात्र उन विचारों पर निर्भर है, जो सत्व-सम्पत्ति को बढ़ाने वाले हैं। मनः प्रसाद या शुद्ध संकल्प का विशुद्ध दशा में होना एक मात्र इस पर निर्भर है कि मन की गति सात्विक विचारों पर डाल दी जाय, यही इस "जीवनादर्श" पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है।

मनुष्य का संकल्पात्मक मन ही एक ऐसी वस्तु है, जिसके निर्मल होने से सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध होते हैं। गीता वाक्य—

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरपि सुदुष्करम् ॥"

अर्जुन जी का भगवान कृष्ण जी के प्रति यह प्रश्न करने पर कि मन का चञ्चल स्वभाव है और मन को निग्रह किये विना वह अनिर्वचनीय अलभ्य सुख अप्राप्य है। भगवान् कृष्ण जी ने उत्तर दिया–

"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन च कौन्तेय वैराग्येण च लभ्यते ॥"

निःसन्देह मन चञ्चल है, परन्तु रजस्तमस्जन्य हीन भावों के परिहार और सच्छास्त्रों के अभ्यास द्वारा सात्विक वृत्तियों के अवलम्बन से और सृष्टि के वास्तविक तत्त्व देखने (वैराग्य) से मन समाहित होता है ।

"परिणामतापसंस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च सर्वमेव दुःखं विवेकिनः ॥"

संसार के क्लेशों को जितना ज्ञानी जानता है, उतना अन्य लोग नहीं जान सकते हैं । पैर पर पाषाण की रगड़ लगने पर भी उतना क्लेश नहीं होता है जितना आंख पर रोम के स्पर्श मात्र से ही होता है । मन की वृत्तियों की ओर जब तुम ध्यान दोगे तो वे वृत्तियां स्थिर होकर तुम्हारी ओर निश्चल भाव को धारण करेंगी । धर्म की पराकाष्ठा एक मात्र मन के विशुद्ध करने से होती है और मन की विशुद्धता ब्रह्म विचार से ही प्राप्य है ।

"स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिलं सर्वापि दत्तावनी ।
यज्ञानाञ्च सहस्रमिष्टमखिलं देवाश्च संतर्पिताः ॥
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योपि स ।
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥"

समस्त तीर्थों का स्नान, सम्पूर्ण वसुंधरा का दान, अनन्त यज्ञ सब देवताओं का अर्चन तथा संसार से अपने पितरों का तारण उसने किया, जिसका मन ब्रह्म विचार में क्षण भर भी स्थिर हुआ । मन के पवित्र होने से ही ज्ञानी की सम्पूर्ण कामनाएं फलित होती हैं ।

"यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्ध सत्त्वः कामयते यांश्च कामान् तं तं लोकं जायते तांश्च कामान् ॥"

संसार का विजय मन की स्थिरता ही तो है। किसी विशेष आश्रम में जाने से धर्म साक्षात्कार नहीं होता है। इस पुस्तक में धर्म की यही मुख्य साधना निरूपण की गई है।

मनुष्य शक्ति की स्फुरणा कर्म पद्धति पर ही अनादि आर्यसिद्धान्त-सिद्ध है। मनुष्य में दो प्रकार की शक्तियां होती हैं—एक नैसर्गिक और दूसरी व्यावहारिक। नैसर्गिक शक्तियों का स्वतः शुद्ध या मलिन प्रभाव अवस्थानुसार होता जाता है। व्यवहारिक शक्तियों में यह अन्तर है कि जब व्यवहार (प्रयत्न विशेष) स्वभाव के अनुसार चलता जाता है, उस दशा में व्यवहार नैसर्गिक भाव को दृढ़ करता है। जब तद्विपरीत व्यवहार की गति होती है, तब वह प्रयत्न विशेष से अपने अभीष्ट भाव को दिखलाता हुआ भी कभी संकुचित या असंकुचित दशा को दिखलाता है। वास्तव में तो नैसर्गिक शक्ति का दृढ़ होना ही मनोनिग्रह है। इसमें कोई नियम नहीं है कि किस कोटि के पुरुष की नैसर्गिक शक्तियां किस अवस्था में अपना प्रभाव दिखाती हैं। प्रातःस्मरणीय ध्रुव महाराज ने तथा प्रहलाद जी ने बाल्यावस्था में ही आत्मज्ञान की वह महिमा प्राप्त की, जो बड़े तपः प्रभाव से प्राप्य हैं। इस पर विशुद्ध वंश में उत्पन्न होना तो सोना और सुगन्ध है।

इस पुस्तक के लेखक पण्डित ज्योतिःशरण रतूड़ी शर्म्मा गढ़वाल के उत्तम कुल के ब्राह्मण वंश में हैं। इनके पूर्व पुरुषों की भगवद्भक्ति, राजभक्ति, देश-हितैषिता तथा विद्वज्जन-प्रेम प्रसंशनीय हैं। आप की बाल्य काल की जीवनचर्य्या का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि बहुत छोटी अवस्था से ही आप की नैसर्गिक शक्तियां विशुद्ध होती आई हैं। आप को बाल्यावस्था से ही पतित-पावनी भगवती भागीरथी जी के तट पर निवास करते हुए महात्माओं से आध्यात्मिक विचार करने का परम सौभाग्य रहा, जिससे आप की मनोवृत्तियां अपनी कोमल अवस्था से ही विशुद्ध भाव को प्राप्त

होती गईं। महात्मा स्वामी रामतीर्थ जी का इनकी मनोवृत्तियों की रुचि आध्यात्मिक विचारों की ओर झुकी देख कर इनसे बड़ा प्रेम था। एक समय इनकी विद्यार्थी अवस्था में स्वामी जी ने टिहरी नरेश से इनका अमेरिका जाने का निश्चय किया था, (जहां ये किसी खास कारण वश न जा सके) स्वामी जो ने जो परिचय पत्र उस समय इनको दिया था, उसमें लिखा है:—

Mr. Jyotih Sharan Raturi comes to America as a student. He is a young man of noble family, sweet-tempered, respectful, industrious, of real intrinsic worth He is recommended to the kindest regards of American friends." — *Swami Ram Tirth, M. A.*

सारांश यह है कि "पूर्वे वयसि यः शान्तः स शान्त इति निश्चयः" बाल्य काल में जिसके जो शुद्ध भाव रहते हैं, वही समय पाकर अपना प्रभाव दिखाते हैं। इनके साधु आचरण व अनुभव का सार इस पुस्तक में अत्यन्त उपकारी हैं, आशा है विद्वज्जन विचारेंगे। आप बड़े सात्विक व्यक्ति हैं, आप के आध्यात्मिक विचार क्रमशः बढ़ रहे हैं। मैंने आप की पुस्तक को समग्र पढ़ा, विचार समय के अनुकूल उपकारी हैं, जिन पर विचार करना देश के अग्रगण्य महानुभावों को परम आवश्यक है। मैं स्वयं पुस्तक को पढ़ कर कृतार्थ हूं, ईश्वर आपके मनोरथों को सफल करे। बहुनाकिम्। ॐ शान्तिः।

ता० ७ अप्रैल सन् १९१४ ई०

ह०—हरिदत्त शर्म्मा जोशी शास्त्री,
इन्स्पेक्टर वरनाक्यूलर स्कूल्स,
टिहरी।

भूमिका

यं ब्रह्म वेदान्तविदो वदन्ति
ध्यायन्ति यच्चारणसिद्धसंघाः ।
यद्योगिनां योगपथानुगम्यं
तं सर्वभूतं प्रणमानतोस्मि ॥

प्रिय पाठक !

अपनी छोटी अवस्था में श्री गुरुमुख द्वारा "ज्ञानं नराणामधिकं विशेषं ज्ञानेन हीनाः पशुभिस्समानाः" इस नीति वाक्य को श्रवण कर अपने चित्त में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि आहार, निद्रा, भय विषयैषिणा सन्तति-रक्षा तथा च परस्पर सहानुभूति, जातीय प्रेम, देशानुराग, वस्तु-संग्रह आदिक अनेकानेक गुणों की पशु, और मनुष्य में समानता होने पर भी मनुष्यों में ज्ञान की अधिकता मानी जाती है, सो वह ज्ञान कौन सा है जिससे मनुष्य की पशु की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठा की जाती है। यह जिज्ञासा चित्त में खटकती ही गई कि किञ्चित् काल के अनन्तर संयोगवश हिमालय तीर्थवासी पूज्य पाद ब्रह्मीभूत श्री १०८ स्वामी रामतीर्थजी के समीप कुछ काल तक निरन्तर सत्सङ्गति तथा अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनके संशयोच्छेदक सारगर्भित कथनों को श्रवण कर मन का जीर्ण मल किञ्चित् दूर हुआ और उक्त जिज्ञासित विषय में प्रवृत्ति होने लगी। तदनन्तर जीवन के सन्मार्ग दर्शक इङ्गलिश भाषा के अनेक आदर्श ग्रन्थों का मनन किया तथा च भारतीय भाषा के कतिपय पारमार्थिक तथा लौकिक श्रुतिस्मृत्यनुयायी नीतिविषयक शास्त्रों का भी अवलोकन किया। इङ्गलिश भाषा में साधारण पाठकों के हित जीवन के सन्मार्ग निर्देशक अनेकानेक सन्तोष-जनक सर्वोपयोगी निष्पक्ष ग्रन्थ सम्प्रति विद्यमान हैं और समयानुकूल नवीन ग्रन्थों की रचना

भी होती जाती हैं। भारतीय भाषा में श्रुति, स्मृति से अन्य यद्यपि एतद्विषयक अनेक निबन्ध सम्प्रति वर्तमान हैं, परन्तु वे निबन्ध केवल एक ही लक्ष्य के विषय में विप्रतिपन्न संशय विपर्यात्मक चार्वाक प्रभृति मत मतान्तर को परास्त कर तथा अपने मत को प्रतिष्ठित करने के अभिप्राय से अनेक शास्त्र सम्मति अनेक उदाहरण तथा उक्ति युक्ति गर्भित दुर्बोध्यतया बहु विस्तृत हैं। एवं भारत धर्म की प्रचारक प्राचीन पुराण गाथाएं भी सार्वजनीन नित्य शुद्ध कैवल्य धर्म को बहु विस्तृत रूप से व्याख्यान करती हैं। परन्तु वे गाथाएं अति गहन विषयक होने के कारण वर्तमान काल में साधारण पाठकों से अनेक संशय तथा आक्षेप युक्त मानी जाती हैं। आदर्श व्यक्ति नित्य स्मरणीय ब्रह्मलीन पूज्य पाद श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी निर्मित "सत्यार्थ प्रकाश" आधुनिक ग्रन्थ भी वर्तमान काल में सर्वोपयोगी सर्व साधारण के सुभीते के अनुकूल स्वल्प ग्रन्थ है, परन्तु तदन्तर्गत मत केवल आंशिक तथा ऐकदेशिक माना जाता है और इस कारण से यह ग्रन्थ सर्व प्रिय नहीं है। वर्तमान काल में जीवन के सन्मार्ग निर्देशक सर्वसाधारण के हितार्थ सरल हिन्दी भाषा के भी कतिपय सामयिक निबन्ध विद्यमान हैं। परन्तु वे निबन्ध मानव धर्म के केवल किसी एक ही मुख्य अङ्ग को तथा एकदेशिक मत के प्रतिपादन करने में तत्पर हैं और यद्यपि जीवन के सन्मार्ग निर्देशक अनेकानेक लेख सम्प्रति भिन्न भिन्न भाषाओं के कतिपय समाचार तथा मासिक पत्रों में यथासमय प्रकाशित भी होते रहते हैं, परन्तु ऐसे लेखों के पुस्तकाकार में एकत्र न होने के कारण वे साधारण पाठकों के सुभीते के अनुकूल नहीं हैं।

एवं प्रकार कतिपय उल्लिखित कारणों से युरोपियन विद्वानों के मतानुकूल तथा च भारतीय-शास्त्रानुकूल वेदविहित समयोचित सर्व हितकारी अपने उक्त जिज्ञासित लक्ष्य के निर्देशक जीवन के सद्धर्म प्रवर्तक, सरल आशययुक्त, एक स्वल्प हिन्दी भाषा के निबन्ध रचना की उत्कण्ठा चित्त में उत्पन्न हुई, एतदर्थ अपने छोटे मोटे आनुभविक विचारों से अल्प शब्दों में इस 'जीवनादर्श' नामक स्वल्प निबन्ध की रचना की गई है। आशा है सहृदय गुणग्राही "हंसो यथा क्षीरमिवाम्बु मध्यात्" न्याय से निबन्ध के सारभूत अंश को ग्रहण करेंगे।

"Read not to contradict and confute, nor to believe and take for granted; nor to find fault, talk and discourse, but to weigh and consider."—*Bacon.*

इस निवन्ध को तीन मुख्य विभागों में विभक्त करके इसका (१) मानसिक (२) शारीरिक और (३) लौकिक क्रम रक्खा गया है और तदन्तर्गत अन्यान्य विषयों की उपेक्षा करके आरम्भ में केवल नेति नेति वाक्य पुरस्सर निरतिशय अक्षय आनन्द को ही जीवन का लक्ष्य प्रतिपादन किया गया है,–यही मनुष्य के मनुष्यत्व ज्ञान का भी प्रतिपादक है। मनुष्य में मानसिक व्यवहारों की उत्कृष्टता ही मनुष्य के गौरव का कारण है। एतदर्थ इस निबन्ध में प्रथमतः मानसिक व्यवहारों की ही संक्षेपतः व्याख्या की गई है। तदनन्तर द्वितीय भाग में मनुष्य के शारीरिक व्यवहारों की सविस्तार व्याख्या की गई है। इसमें मनुष्य की खान पान आदिक आजन्म पर्य्यन्त की सम्पूर्ण जीवनचर्य्याएं प्रकृति के नियमानुकूल दर्शाई गई हैं। शरीर ही प्राणीमात्र के मानसिक और लौकिक उभय अर्थ की फल-सिद्धि का मुख्य साधक है। तत्पश्चात् तृतीय भाग में मनुष्य के लौकिक व्यवहारों की व्यवस्था की गई है। इसमें मनुष्यमें धन सञ्चय विद्योपार्जन यश प्राप्ति आदिक जो योग्य लालसाएं होती हैं वे आदर्श रूपेण दर्शाई गई हैं और इसी में समयोचित कर्तव्यता देश, काल, समाज, अधिकारी आदि का भी निर्णय किया गया है और एवं जीवन के क्रमानुसार समस्त व्यवहारों की व्याख्या करने के अनन्तर अन्त को पुनः उक्त निरतिशय अक्षय आनन्द की ही उत्कृष्टता दर्शाई गई है।

निवन्ध को तीन भिन्न विभागों में विभक्त करने पर भी निरतिशय अक्षय आनन्द ही जीवन का लक्ष्य "सूत्रेमणिगणाइव" मनुष्य की सर्वावस्थाओं में निरन्तर ओत प्रोत दर्शाया गया है और अन्यान्य कथित शीर्षक विषय उस लक्ष्य के उपलक्षक माने गये हैं, यही स्वाभाविक क्रम भी है। प्रत्येक मनुष्य संसार में किसी विशेष पदार्थ को अपना अभीष्ट (लक्ष्य) मुख्य मान कर तदनुकूल कर्म करता है और अपनी समस्त प्रक्रियाओं को उसी का साधक मानता है।

चित्रकार चित्र रचना से प्रथम ही चित्र की उत्कृष्टता के सम्पूर्ण भावों को अपने चित्त में दृढ़ कर चित्र रचना करता है और पत्र लेखनी मसी आदिक सम्पूर्ण सामग्रियों को उसी का साधक मानता है। कुलाल पात्र के आकार का अपने मन में ध्यान रख कर पात्र को निर्माण करता है और अपने चक्र मृत्तिका आदि को पात्र का साधक मानता है। एवं प्रकार कतिपय उदाहरणों से निबन्ध में निर्देश किये हुए लक्ष्य की ही सर्वावस्थाओं में सर्वोत्कृष्टता उपादेय है। निबन्ध में अनेकानेक विद्वानों तथा श्रुति स्मृति के वाक्य भी यथायोग्य उद्धृत किये गये हैं, जिसका सरल भावार्थ निबन्ध की पाद टिप्पणी में किया है। इन कथनों तथा वाक्यों के इस प्रकार उद्धृत करने का प्रयोजन किसी विषय की पुष्टता के अभिप्राय से नहीं है, वरन् ये केवल निबन्ध के भावों की तुलनार्थ यथातथ्य रक्खे गये हैं। यदि विषय की पुष्टता के अर्थ ही ऐसे वाक्य प्रमाण दिये जांय तो कहां तक दिये जा सकते हैं, शास्त्र भरे पड़े हैं। विद्वज्जन स्वयं निबन्ध के भावों को अनुमित करेंगे। निबन्ध में किसी प्रकार के राग-द्वेष पक्षपात तथा किसी मत के खण्डन मण्डन आदिक हीन भावों का अत्यन्त तिरस्कार करके निष्कपट चित्त होकर शुद्धान्तःकरण से मानव धर्म के विषय में अपने मनोभावों को संक्षेपतः साधारण पाठकों के सुभीते के प्रयोजन से अल्प शब्दों में प्रकाशित करने का साहस किया गया है। यदि निबन्ध किसी प्रकार से भी समाज को लाभदायक प्रतीत हुआ तो अपना कार्य सफल समझा जायगा। विज्ञप्ति है कि सहृदय गुणग्राही विद्वज्जन निःसंकोच होकर निबन्ध की रचना के विषय में अपनी अनुमति का परिचय देते हुए अनुग्रहीत करेंगे, जिससे द्वितीय संस्करण में निबन्ध की त्रुटियों की पूर्ति हो।

इस प्रकार पाठकों को निबन्ध के प्रत्येक अंगों का परिचय देते हुए पुस्तक देश-सेवी ज्ञानवीर महानुभावों के विचारार्थ सादर भेंट है और साथ ही इसके प्रसङ्ग-वश यह भी निवेदन है कि वर्तमान समय में साधारण जनसमुदाय अपने जीवन के सरल नियमों से तथा च मानव जीवन के साधारण कर्तव्यता से अपरिचित होने के कारण समाज दिनों दिन भ्रम में पड़ रहा है, जिससे देश को अत्यन्त हानि पहुंच रही है। इस विषय पर समयोचित यथार्थ विचार

करना समाज के नियन्ताओं को परम कर्तव्य है और स्मरण रहे कि एक मात्र आध्यात्म विद्या ही समाज के सम्पूर्ण भ्रमों को दूर कर हमारी उन्नति करने को समर्थ होगी। यह वही आध्यात्म विद्या है जिसका श्रुति स्मृतियां निरन्तर उपदेश करती रहती हैं और जिसके अटल प्रभाव से प्रभू ईसू व मुहम्मद मनुष्य समाज में देव-वत् पूजे जाते हैं। केवल वही आध्यात्म विद्या हमारे समाज को उन्नति के शिखर पर पहुंचाने को समर्थ है।

उपसंहार में निम्न लिखित महानुभावों को कृतज्ञता पूर्वक धन्य-वाद है, जिन्होंने इस रचना के विषय में अनेक उपकार करके कार्य को उत्साहित कियाहै—पण्डित सूरदत्त जी शर्म्मा टिहरी-निवासी को पुस्तक रचना से प्रथम अपने विचार एक पत्र द्वारा प्रकट किये गये थे, जिसका आपने उत्साह जनक उत्तर दिया और लिखा कि "× × × × × आप अपने इन सर्वोपयोगी शुद्ध विचारों को लेख बद्ध पुस्तकाकार में अवश्य प्रकाशित करके समाज का उपकार करेंगे × × × × ×" मानों पुस्तक लिखने को आरम्भ में आपने ही उत्साहित किया (आप समाज के सच्चे उत्साही सेवक हुए हैं। अब यह शुद्ध व्यक्ति जन समाज में विद्यमान नहीं हैं) तदनन्तर पं० दुर्गादत्त जी शर्म्मा पन्थ कूर्माचल-भूषण महामहोपदेशक भारत धर्म महामण्डल ने इस पुस्तक की प्रारम्भिक दशा में कुछ पृष्ठों को पढ़ कर अत्यन्त हर्ष प्रकट किया और अपनी यह हार्दिक अनुमति प्रकट की कि पुस्तक समाप्त होने पर सर्वोपयोगी होगी। इसके प्रकाशित होने में समाज का अत्यन्त उपकार होगा। आपके इस कथन से बहुत उत्साह मिला। पं० नारायणदत्त जी शर्म्मा नौटियाल टिहरी निवासी की इस कार्य्य में आद्योपान्त सहायता रही। प्रमाणों के अनुवाद तथा समय समय पर पुस्तक को शुद्ध करने का आप ने परम कष्ट उठाया। आप की सत्सङ्गति से अपने विचारों को यथो-चित सहायता मिलती रहती है।

पुनः हमारे हार्दिक धन्यवाद श्रीमान् पं० हरिकृष्ण जी शर्म्मा रतूड़ी प्रधान मंत्री, टिहरी गढ़वाल, महामहोपाध्याय श्रीमान् पं० आदित्यराम जी शर्म्मा भट्टाचार्य्य एम्० ए०, इलाहाबाद, श्रीमान् महामहोपाध्याय पं० शिवनारायण जी शर्म्मा शास्त्री, संस्कृत प्रोफे-

सर मेयो कालेज अजमेर, श्रीमान् पं० वुलाकीराम जी शर्म्मा शास्त्री विद्यासागर पंजाबभूषण धर्मोपदेशक मेयो कालेज अजमेर तथा च श्रीमान् पं० चन्द्रधर जी शर्म्मा गुलेरी बी० ए० जयपुर, तथा च श्रीमान् पं० हरिदत्त जी शर्म्मा जोशी शास्त्री इन्स्पेक्टर वर्नाक्युलर स्कूल टिहरी व श्रीमती देवी सत्यवती शास्त्रिणी देहरादून को हैं, जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय दिया और इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ कर अपनी लेख-बद्ध अनुमति प्रदान करके पुस्तक के गौरव को बढ़ाया है।

इस जीवनादर्श पुस्तक की चर्चा एक समय श्री १०८ आनरेबल श्रीमान् महाराजा सर कीर्तिशाह साहब बहादुर के० सी० यस० आई० के कर्णों तक पहुंची थी। श्रीमान् इसके देखने को बड़े उत्सुक थे, परन्तु खेद है संयोग ऐसा पड़ा कि यह सौभाग्य प्राप्त न हुआ। अब यह शुद्ध व्यक्ति जन-समाज में विद्यमान नहीं है। श्रीमान् विद्वज्जन प्रेमी आध्यात्म विद्या के परम जिज्ञासु थे। हम श्रीमान् को अनेक उपकारों के लिये धन्यवाद देते हैं और अब हम श्रीमान् के आत्मज श्री १०८ महाराजा नरेन्द्रशाह साहब बहादुर के चिरजीवन के लिये ईश्वर से प्रार्थना करते हैं और हमारा यह हार्दिक आशीर्वाद है कि श्रीमान् के कोमल अन्तःकरण पर अपने पूज्य पिता जी की विलक्षण शक्तियों का पूर्ण रूप से आविर्भाव होवे।

तदनन्तर हमारा कृतज्ञता पूर्वक हार्दिक धन्यवाद अपनी प्रजा वत्सल सरकार को है जिसके निर्विघ्न राज्य में प्रत्येक को अपनी आध्यात्मिक, शारीरिक और व्यावहारिक उन्नति करने की परम स्वतन्त्रता है।

सर्वोपरि हमारे धन्यावाद श्री सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म को है, जिसकी अनुकम्पा से संसार में हमारे सुख के लिये अनेक सामग्रियां वर्तमान हैं और जिस परमात्मा की प्रेरणा से प्रकृति स्वयं हमारी सेवा में प्रतिक्षण तत्पर रहती है और सूर्य्य चन्द्रादि हमारे कल्याण के निमित्त सर्वदा प्रेरित रहते हैं।

ॐ भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

टिहरी (गोढ़ि)
१६ अगस्त १९१५

भवदीय—
ज्योतिःशरण रतूड़ी, टिहरी
गढ़वाल (गोढ़ि)।

जीवनादर्श

प्रथम खण्ड

मानसिक व्यवहार

विषय-सूची पृष्ठ

द्वितीय खण्ड

शारीरिक व्यवहार

विषय-सूची पृष्ठ

तृतीय खण्ड

लौकिक व्यवहार

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ओ३म

दर्शनीय है आज चित्र ही, कीर्तनीय गाथा गुन की।
अनुकरणीय चारु चरितावलि, दीर्घकाल भू में उन की॥
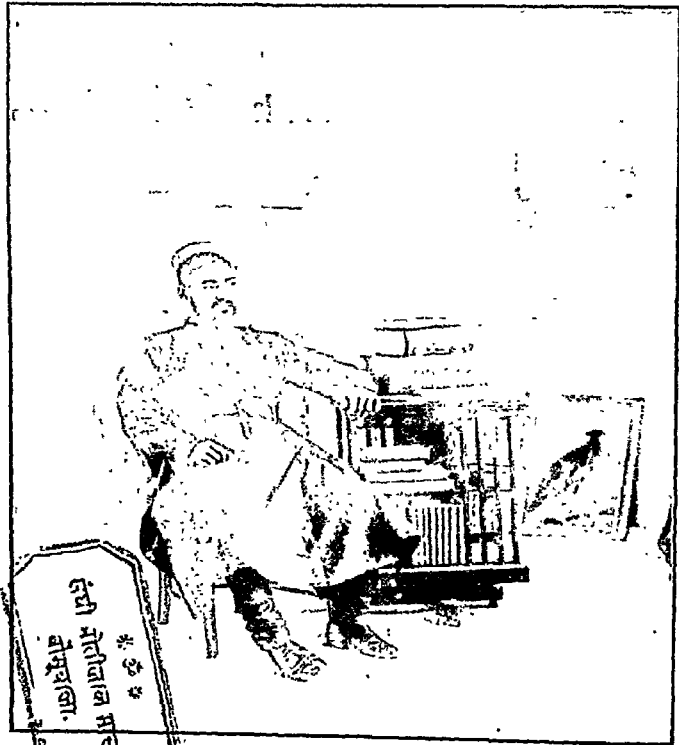
श्री १०८ स्वर्गवासी गढ़वाल नरेश,
माननीय सर कीर्तिशाह बहादुर,
के० सी० यस० आई०।

सुदर्शन प्रेस, प्रयाग।

"He is not dead, whose glorious mind,
Lifts thine on high,
To live in hearts, we leave behind
Is not to die."

(१)

श्री गढ़राज मान्य महाराजा कीर्तिशाह नर नायक की।
स्वर्गधाम विश्राम किये नित पावन हृत्सुख दायक जी॥
अति पवित्र आत्मा के प्रति यह ग्रन्थ समर्पण करता हूं।
प्राप्त सुधा सन्तोष त्रिविध निज मनस्ताप को तजता हूं॥

(२)

कुटिल काल गति से यद्यपि इस नस्वर जग से विदा हुये।
विमल राशि यश को तथापि वे भूमंडल में छोड़ गये॥
ज्योति रूप वह शक्ति ब्रह्मचित्परमात्मा को प्राप्त हुयी।
चन्द्रहास सम उज्वल उनकी कीर्ति जगत में व्याप्त रही॥

(३)

स्वार्थ-निरत नर कातर पापी जीवित ही मृत होते हैं।
परमार्थी, ज्ञानी, सज्जन, जन मर कर जीवित रहते हैं॥
हृदयों में वे जगज्जनों के अमर अजर पद पाते हैं।
अनुकरणीय पुण्यमय पथ पर उनको सदा चलाते हैं॥

—लेखक

जीवनादर्श

प्रथम खण्ड

मानसिक व्यवहार

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथोबलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माऽहं ब्रह्म निराकुर्यांमामा ब्रह्म निराकारोद निराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥ ॐ शान्तिः ३ ॥

जीवन लक्ष्य]

भगवन्! हमको संसार में प्रत्येक पदार्थ के महत्व की खोज करते हुए यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि मनुष्य जीवन का लक्ष्य क्या है? इस विषय पर विचार करने से-प्रथम यह प्रश्न उठते हैं कि—

(१) मनुष्य क्या पदार्थ है?
(२) जीवन क्या वस्तु है?
(३) लक्ष्य क्या है?

इन प्रश्नों के उत्तर में इन तीनों शब्दों की संक्षेपतः ये परिभाषाएं लिख देनी ठीक होंगी कि—

(१) मनुष्य विवेकयुक्त प्राणी है।

(२) जीवन प्राणीमात्र का वह समय है जबसे जबतक शरीर में इन्द्रियों का व्यापार और प्राणों का योग रहता है।

(३) लक्ष्य कोई नियत वस्तु है जिसको हम सर्वोपरि प्राप्त करना चाहते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि मनुष्य-योनि अन्य पशु-योनियों की अपेक्षा विशेष गुणवाली है। मनुष्य को, नित्यानित्य तथा सत्य असत्य वस्तु का यथार्थ विवेक है। यदि इसमें यही गुण-विशेष न होता तो उसकी ऊपर लिखी परिभाषा नहीं हो सकती थी और यह भी पशु के समान दीन हीन दशा में रहता। परन्तु मनुष्य में केवल ज्ञान की विशेषता है और इसी विशेषता के कारण मनुष्य को संसार में अन्य पशुओं की अपेक्षा अधिक शिष्टाचार दिया गया है। अतः मनुष्य को अपने इस शिष्टाचार को कायम रखने के लिए संसार में अपने जीवन को भली भांति निभाना चाहिए और इस हेतु अपने जीवन में हर घड़ी अपनी बुद्धि के बल से अपने लक्ष्य की ढूंढ़ करता रहे और विचारता रहे कि वह कौन सी वस्तु है जिसको हम अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य मान संसार में उसको ग्रहण करें और उनके अनुसार कर्म कर अपना जीवन व्यतीत करें? इस विषय पर गहरे विचार करनेसे पता लगता है कि जीवन की लक्ष्य वस्तु केवल आनन्द ही है। संसार में सम्पूर्ण प्राणी वर्ग प्रतिक्षण "आनन्दो मे भूयात्" इस अपने सुख की चिन्ता में डूबे रहते हैं। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि संसार में कोई ऐसा न होगा जो अपने आनन्द नहीं चाहता है। प्रत्येक जीवधारी अपने अपने आनन्द का लक्ष्य बांधे रहता है। परन्तु मनुष्य के आनन्द सब से सच्चे और निराले होते हैं, मनुष्य विवेक-युक्त प्राणी होने के कारण सदैव सच्चे आनन्द का पात्र है।

सच्चा-आनन्द]

केवल आनन्द शब्द से ही फूल जाना ठीक नहीं है, इस में दृढ़ विवेक की आवश्यकता है। यहां पर परिपक्व धैर्य ही काम देगा, हर किसीको वह सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता है कोई विरले ही प्रबल संस्कार-

युक्त पुरुष होंगे जो यथार्थ में सच्चे आत्मानन्द का अनुभव कर सकते हैं।

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:" (क)

संसार के विषयों में लिप्त रहने वाले पुरुष उस सच्चे आनन्द के सुख को नहीं जान सकते हैं। क्या सांसारिक पदार्थों के सुख भोग उस आनन्द को देनेवाले हैं? नहीं, ये सुख सब क्षणिक हैं। क्या इन्द्रियों के सुख भोग में निर्भय आनन्द है? नहीं, इसमें अनेक रोगों का भय है। क्या संसार में केवल पुत्र पौत्रादिक सम्पत्ति ही पूर्ण ऐश्वर्य का कारण हो सकती है? नहीं, इसमें भी रोग वियोग आदिक अनेक भय हैं। क्या संसार में केवल धन सञ्चयादिक आर्थिक सम्पत्ति ही आनन्द का मूल हो सकता है? नहीं, धन सब नाशवान् हैं। क्या संसार में स्वरूपवान होकर चिरंजीवी होने में ही अनन्त सुख हैं? नहीं अन्त को मृत्यु का भय है। क्या केवल अनेक शास्त्रों में परांगत होना ही निर्विवाद सुख है? नहीं, इसमें भी मानापमान का भय है। तो क्या हिमालयों में गङ्गा तट पर तपश्चरण में मग्न रहना ही अनन्त सुख है? नहीं, तपोभङ्ग का भय है। अर्थात् सांसारिक वैषयिक सुख जितने हैं सब नाशवान और भयदायक हैं।

तो फिर प्रश्न होता है कि नित्य रहने वाले सुख क्या हैं? निर्भय सुख किन बातों में भरा पड़ा है? नित्यानन्द कहां जाकर प्राप्त हो? क्या आनन्द केवल शब्द मात्र ही है? क्या आनन्द वस्तुतः कोई वस्तु ही नहीं है? क्यों नहीं—

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" (ख)

आनन्द एक ऐसी वस्तु है जिसके प्राप्त होने से सब प्रकार के भय नष्ट हो जाते हैं। उस परमानन्दब्रह्म के अनुभव हो जाने से न मृत्यु का भय, न शत्रु का भय, न नाश का भय, न क्षय का भय, न हाथ मैले, न पांव मैले, न किसीका जप, न तप, न "सिर खपाई न दांत पिसाई" और न कहीं आना न जाना। बग़ल में लड़का नगर में ढंढोरा। अभय, अखण्ड, शुद्ध नित्यानन्द तो अपने ही भीतर है, यह अपने से बाहिर नहीं है।

(क) यह आत्मानन्द मानसिक बल रहित पुरुष को प्राप्त नहीं होता है।
(ख) आनन्द स्वरूप ही ब्रह्म जाना जाय।

"पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्" (क)

अपनी मृग तृष्णा को यदि त्याग करें संसार के लालचों से अपने को बचावें, अपने मनोदेव जी को बाह्य पदार्थों से रोक कर अपनी बुद्धि देवी जी को अपने आत्मदेव जी की सेवा में लगावें तो आनन्द की कमी नहीं है। चारों ओर से असीम आनन्द की बौछाड़ें पड़ती हैं। आनन्द में कुछ नहीं सूझता है, हर घड़ी हर वस्तु में आनन्द ही आनन्द प्रतीत होता है।

"आनन्दाद् ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते"। "आनन्देन जातानि जीवन्ति"। "आनन्देन प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति"। "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन"। (ख)

इस आनन्द की अनोखी गति है, यह सांसारिक वैषयिक सुखों के त्याग और आत्मबल से ही प्राप्त होता है। प्रबल संस्कार युक्त सच्चे त्यागी पुरुष को ही आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

त्याग शब्द सुनते ही चौंक जाना उचित नहीं है। त्याग की विचित्र गति है, सच्चा त्याग (Renunciation through love in action) जहां होता है तो संसार के सारे सुख हमारे पीछे स्वामिभक्त कुत्ते के समान दौड़ते चले आते हैं और हमें लिपटते हैं।

सच्चा-त्याग]

(क) इसी शरीर में चेतन धर्मवती बुद्धिरूपी गुफ़ा में यह अचिन्त्य शक्ति स्थित है।

"है नेड़े सूझत नहीं लानत ऐसे जिन्द।
तुलसी या संसार को भयो मोतियाबिन्द"॥

(ख) यह समस्त संसार आनन्द चिद्रूप ही से उत्पन्न होता है और आनन्दरूप चैतन्य की सत्ता से ही जीवित रहता है तथा अवसान में आनन्दरूप प्रत्यगात्मा को प्राप्त होकर प्रवेश करता है अतः वीतराग होकर आत्मानन्द को जान कर द्वैतभाव के अत्यन्ताभाव होने से विद्वान् किसीसे भी भयभीत नहीं होता है।

"Fly Pleasures and they will follow you"
—*Franklin.* (क)

संसार के सुखों के पीछे जहां हम लगते हैं तो वे हम से दूर भागते हैं और हमारे हाथ नहीं आते हैं और वही सुख हमारे दुःख और भय के कारण बन जाते हैं। संसार के सुखों का भोग और अज्ञान बालक का खेल एक समान हैं। दीपक के प्रकाश में खेल करता हुआ अज्ञान बालक दीपक की ओर अपनी पीठ करके अपने सन्मुख अपने छाया-शरीर को देख उसको दूसरा बालक जानता है और उसके साथ अपने खेल का सुख लेने की इच्छा से अपने दोनों हाथों को फैला कर उसको आलिङ्गन करने के निमित्त आगे को बढ़ता है, परन्तु जैसे ही वह आगे बढ़ता है उसका छाया शरीर भी आगे ही को बढ़ता चला जाता है यहां तक कि बालक उसका पीछा करता हुआ आगे किसी सुनसान भयानक अंधेरे स्थान में पहुंच जाता है जहां उसके खेल की वस्तु अन्धकार में नष्ट हो जाती है और बालक स्वयं बहुत दुःख पाता है। परन्तु फिर बालक अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित होकर उस खेल की वस्तु को मिथ्या जानकर उसको प्राप्त करने की इच्छा को त्याग देता है और दीपक की ओर लौट आता है। दीपक के प्रकाश में पहुंचते ही बालक फिर अपने खेल की वस्तु अपने छाया शरीर को अपने पीछे चला आता देखता है। फिर वह उसको मिथ्या रूप मान कर उसे लेने की इच्छा तो नहीं करता है परन्तु उसको अपने पीछे पीछे भगाता फिरा हुआ निरन्तर प्रकाश में अपने खेल का आनन्द लेता है।

तात्पर्य यह है कि दृढ़ त्याग ही एक ऐसी वस्तु है जो दुःख को भी सुख रूप बना देती है और फिर दुःख का लेशमात्र भी नहीं रहता है। इस प्रकार दृढ़ त्याग हो जाने पर क्यों न नित्यानन्द का अनुभव हो जाय? और सच्चिदानन्द की प्राप्ति कैसे न हो? हम व्यवहार में भी देखते हैं कि धन का सुख तब ही है जब हम धन पर मोह नहीं करते हैं और उसको निधड़क अपने पास से त्याग कर उसके बदले में सांसारिक सुख लेते हैं। जीवन का सुख तब ही है जब हम अपने इस वैकारिक शरीर को अपना

(क) वैषयिक सुखों को त्याग करो तो वे तुम्हारा स्वतः अनुसरण करेंगे।

आपा नहीं मानते हैं। देश का सच्चा अनुरागी वही पुरुष है जो देश के हित अपने शारीरिक सुखों को त्यागता है। सच्चा त्यागी वीर वही है जो अपने निःस्वार्थ कर्मों के फल भोग की इच्छा नहीं रखता है। संसार में सुख पूर्वक उसी की निभती है जो स्वार्थ-पर नहीं होता है।

स्मरण रहे मन में जब तक अपना, अपना होता रहता है तब तक अपना कुछ नहीं है। त्याग का तो यही लाभ है कि जिन्होंने मन से सच्चा त्याग किया है, उन्होंने सब कुछ पाया है, और जिन्होंने चाहा है, वे सब कुछ खो बैठे हैं।

किसी सच्चे त्यागी वीर महात्मा ने अपना अनुभव यों वर्णन किया है—

"नाह मात्मार्थ मिच्छामि गन्धान्घ्राणगतानपि।
तस्मान्मे निर्जिता भूमिर्वशे तिष्ठति नित्यदा॥
नाह मात्मार्थ मिच्छामि रसनास्येऽपि वर्ततः।
आपोमे निर्जिता स्तस्मा द्वशे तिष्ठंति नित्यदा॥
नाह मात्मार्थ मिच्छामि रूपज्योतिश्च चक्षुषः।
तस्मान्मे निर्जिता ज्योतिर्वशे तिष्ठति नित्यदा॥
नाह मात्मार्थ मिच्छामि स्पर्शांस्त्वचिगतानपि।
तस्मान्मे निर्जितो वायुर्वशे तिष्ठति नित्यदा॥
नाह मात्मार्थ मिच्छामि शब्दान् श्रोत्रगतानपि।
तस्मान्मे निर्जिताः शब्दा वशे तिष्ठंति नित्यदा॥
नाह मात्मार्थ मिच्छामि मनो नित्य मनोऽन्तरे।
मनो मे निर्जितं तस्मात् वशे तिष्ठति सर्वदा॥"

—महाभारत

भावार्थ—अपने मज़े के ख़ातिर गुल छोड़ ही दिये जब।
रूये ज़मीं के गुलशन मेरे हि बन गये सब॥
जितने ज़ुबाँ के रस थे कुल तर्क कर दिये जब।
बस ज़ायक़े जहाँ के मेरे हि बन गये सब॥
ख़ुद के लिये जो मुझ से दीदों कि दीद छूटी।
ख़ुद हुश्न के तमाशे मेरे हि बन गये सब॥

अपने लिये जो छोड़ी ख़्वाहिश हवा खुशी की।
बादे सबा के झोंके मेरे हि बन गये सब॥
निज की ग़रज़ से छोड़ा सुनने कि आरज़ू को।
अब राग और बाजे मेरे हि बन गये सब॥
जब बेहतरी के अपनी फ़िक्रो ख़्याल छूटे।
फ़िक्रो ख़्यालें रंगी मेरे हि बन गये सब॥
आहा! अजब तमाशा! मेरी नहीं है कुछ भी।
दावा नहीं ज़रा भी इस जिस्म इस्म पर ही॥
ये दस्तो पा हैं सब के आंखें ये हैं तो सब की।
दुनियां के जिस्म लेकिन मेरे हि बन गये सब॥

—श्रीस्वामी रामतीर्थ

वास्तव में पूरा आनन्द सच्चे त्यागी महात्मा को ही प्राप्त होता है। जबतक देह में से अपनापन न मिट जाय, चित्त से नीच स्वार्थपरता न हट जाय और मनुष्य प्रकृति के साथ अपना ऐक्य न कर ले तबतक आनन्द की सीमा बहुत दूर है।

तो फिर अपने जीवन में अपने कल्याण के निमित्त कुछ हो, अपने प्राण कण्ठ गत हो जावें, परन्तु अपने लक्ष्य से अपनी दृष्टि न हटने पावे। अपने लक्ष्य साधन करने का सच्चा सीधा मार्ग यहीं है। उस आनन्द स्वरूप परमात्मा को जान लेने से मनुष्य सब प्रकार के बंधनों से मुक्त हो जाता है।

"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यते ऽयनाय" (क)

अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखने वाले वीर महात्मा ही धन्य हैं। अपने लक्ष्य को योग्यता पूर्वक लक्षित करने वाला वीर जितनी गोलियां चलावेगा सब ठीक लगेंगी और उसके सब निशाने सही होंगे। वही सच्चिदानन्द पद को पा चुकता है। अष्ट सिद्धियां उस की दासी बनी फिरती हैं वह जो चाहे सो करे और जो करे सब सही। संसार चक्र उसके संकेतों पर भ्रमण करता है।

(क) उसी परमात्मा को जान कर पुनरावृत्तिरहित धर्म को प्राप्त होता है उस पुनरावृत्तिरहित रूप मोक्ष को प्राप्त होने के लिए और मार्ग नहीं है।

वास्तव में त्याग शब्द से कितने ही अभिप्राय माने जाते हैं जिनमें कितने ही अनर्थक भी हो जाते हैं, परन्तु यह लक्ष्य जमाने का यथार्थ ढंग न जानने का कारण है। क्या त्याग से यह अभिप्राय है कि हम संसार में निराश और पुरुषार्थ हीन हो जीवन के असली अर्थ को छोड़ कर अपने शरीर को नष्ट भ्रष्ट कर डालें?

शारीरिक लाभ] यह शरीर तो अपने आनन्द के अन्य साधकों में से एक मुख्य साधक है—

"शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधकम्" (क)

शरीर तो अर्थ सिद्धि ही के लिये है, यह शरीर हमें लक्ष्य साधन के लिये एक यथोचित यंत्र (As a means to an end) मिला है, यह एक अत्यन्त सूक्ष्म दर्शक यन्त्र है, इस यन्त्र की रक्षा करना हमारा मुख्य धर्म्म है। चाहिये कि अपने यन्त्र को हर घड़ी स्वच्छ रक्खें जिससे इसके निर्मल शीशों में संसार का यथार्थ प्रतिबिम्ब (अक्स) पड़े और अपनी लक्ष्य वस्तु इसमें ठीक दिखाई पड़े। यही यन्त्र है जिससे सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों का पता लगता है यहां तक कि उसके द्वारा अति सूक्ष्म विषय "आत्मवस्तु" इस अखण्ड ब्रह्माण्ड के प्रत्येक परमाणु में साक्षात्कार प्रतीत होती है। अगम्य और अगोचर तत्व इसके शीशों में वृहद् रूप में देख पड़ते हैं। इससे कितने अर्थ सिद्धि होते हैं विचारवान् को ही ज्ञात होता है। परन्तु केवल चतुराई यही है कि यह यन्त्र हर घड़ी स्वच्छ रहे। इसकी स्वच्छता इसको बराबर काम में लगाये रहने से ही रह सकती है, न कि एक कोने में निरर्थक पड़े रहने से। इसको हर घड़ी काम में लाने से ही इसके भीतरी प्रत्येक सूक्ष्म भाग पुष्ट और स्वच्छ रहते हैं और यह यन्त्र स्वयं चिरस्थायी रह सकता है। इसके अनर्थक प्रयोग से तथा निरर्थक पड़े रहने से यन्त्र के अङ्ग प्रत्यङ्ग बल हीन होकर व्यर्थ हो जाते हैं, शीशों पर मैल जम जाता है और यह शीघ्र ही नष्ट भ्रष्ट हो जाता है, तो फिर अपने यन्त्र की हर घड़ी रक्षा करना और इससे संसार में सुयोग्य काम लेते रहना सर्वथा चतुराई है। इस निमित्त प्रत्येक व्यक्ति को अपने सांसारिक व्यवहारों में प्रवृत्त होने से प्रथम ही

(क) शरीर सब धर्म-साधकों में से मुख्य साधक है।

इस विषय का निर्णय कर लेना बहुत जरूरी है कि शरीर के मुख्य धर्म्म क्या हैं ? किस प्रकार से यह शरीर कृतकार्य्य हो सके ? और किस प्रकार से यह नीरोग, निर्मल और चिरस्थाई रह सकेगा, और संसार में अपनी सुयोग्यता दिखा सकेगा ? जिससे हम इसके द्वारा अपनी लक्ष्य वस्तु को सुलभता से लक्षित कर सकें । शरीर को आरोग्य, निर्मल और संसार में इससे सुख पूर्वक अपना पूर्ण कार्य निभाने के लिये व्यवहार में यों तो कुछ बाहरी सामग्री की आवश्यकता होती है, परन्तु विशेषतः इसकी रक्षा के अर्थ प्रकृति के नियमों का पालन करना हमको कर्तव्य है। जहां मनुष्य संसार में प्रकृति के नियमों के अनुकूल कर्म करने लगता है तो इन बातों के जानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है, कि शरीर के धर्म्म क्या हैं क्योंकि फिर तो संसार के प्रत्येक कार्य्य हमारे ही अनुकूल हो जाते हैं ।

"One touch of nature makes the whole world kin." (क)

प्रकृति के नियमों का पालन ही शरीर का प्रधान धर्म्म है, इस धर्म्म पर चलने वाले वीर पुरुष ही अपने लक्षित पद को सीधे और सुगमता से पहुंच सकते हैं । इस प्रकार नियम पूर्वक जीवन व्यतीत करना ही निर्भय अखण्ड आनन्द की प्राप्ति का मुख्य कारण है ।

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्म्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥"

भ० गी० (ख)

संसार में प्रकृति के नियमों पर चलने वाले महात्मा ही धन्य हैं, संसार में वही कृतकार्य्य हो सकते हैं, उन्हीं का लक्ष्य अटल रहता है और संसार को वे ही वास्तविक लाभ भी पहुंचा सकते हैं,

(क) प्राकृतिक नियमों का हमारे चित्त में तनिक भी आवेश होने पर सम्पूर्ण सृष्टि के साथ हमारा अति घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है ।

(ख) पथ्य तथा परिमित आहार करना, स्वास्थ्य वर्द्धक यथोचित व्यायाम कराना, लोकोपकार में उचित आचरण करना और नियमित काल में शयन तथा-प्रबोध करना इत्यादि युक्ताचरण से विवेकी पुरुष त्रिविध दुःख से विनिर्मुक्त होता है ।

उन्हीं का जीवन संसार में सफल है और वे ही अपनी मनोवाञ्छित सफलता को प्राप्त कर सकते हैं। प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल आचरण करने वालों की मानसिक शक्तियां निर्बल होकर वे भीतर ही भीतर सड़ती रहती हैं। उनकी मानसिक शक्तियों के इस प्रकार निर्बल हो जाने से संसार में उनका जीवन अमङ्गल का हेतु हो जाता है।

मानसिक शक्ति] प्रत्येक मनुष्य को संसार में अपने लक्ष्य साधन के लिये अपने शरीर की रक्षा करना और अपनी मानसिक शक्तियों को बढ़ाना उचित है। मनुष्य को संसार में अपनी योग्यता प्राप्त करने के लिये इतनी आवश्यक और कोई वस्तु नहीं है जितनी अपनी ही मानसिक शक्तियां हैं—

"True help comes from within"(क)

यों तो ये शक्तियां स्वभावतः प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान हैं, परन्तु किसी में जगी रहती हैं और किसी में सोई हुई अवस्था में रहती हैं। संसार में अपना कल्याण चाहने वालों को अपनी शक्तियों को सोती दशा से चैतन्य करने के लिये सत्य का आधार रखना अत्यन्त आवश्यक है। सत्य के नक्कारे ही मनुष्य को इस मोह निद्रा से जाग्रत कर सकते हैं, झूठ पर चलने वालों की ये सब शक्तियां घोर निद्रा में सोती चली जाती हैं और यही मोह निद्रा है जो मनुष्य को निरन्तर दुःख पहुंचाती है। जिन भावनाओं तथा व्यवहारों से हममें सत्य गुण की वृद्धि होती है, वही यथार्थ सत्य है और इससे विपरीत आचरण केवल झूठ है। सचाई के लाभ प्रत्येक मनुष्य को सच्चे वर्ताव करने से ही ज्ञात होते हैं। इसका आनन्द दूध और घी के स्वाद के आनन्द के समान प्रिय और मधुर है। जब तक वे स्वयं न चक्खे जांय तब तक इनके स्वाद कुछ भी नहीं जाने जाते हैं और न कोई इनका यथार्थ स्वाद वर्णन ही कर सकता है। इसी प्रकार सत्य के गुण तब ही जान पड़ते हैं जब हम सत्य को स्वयं अनुभव में लाते हैं।

"No pleasure is comparable to the standing upon the vantage ground of truth."—*Bacon*. (ख)

(क) सच्ची सहायता अभ्यन्तर से प्राप्त होती है।

(ख) सत्य के श्रेष्ठ पद पर आरूढ़ रहने के आनन्द की तुलना अन्य आनन्द से नहीं हो सकती है।

इस भलाई को वर्ताव में लाना मनुष्य मात्र का मुख्य कर्तव्य कर्म है। हमें सत्य को वर्ताव में लाना सीखने के लिये कहीं दूर नहीं जाना पड़ता है। हम नित्य अपने जीवन में प्रकृति के कार्य्यों ही से सत्य का व्यवहार सीख सकते हैं। सूर्य, चन्द्र तथा वायु आदिक प्रकृति की अनेक विचित्र शक्तियां अपने कार्य से हमको नित्य प्रति सत्य की शिक्षा करती रहती हैं और हमारे जीवन को हर प्रकार से आनन्द भी देती रहती हैं। अपने जीवन पर्य्यन्त एक मात्र सत्य का आधार रखना ही अपनी वास्तविक भलाई है और इस प्रकार अपनी भलाई करने का उपाय करना प्रत्येक को उचित है।

"Learn the luxury of doing good." (क)

स्मरण रहे कि प्रकृति के नियम सृष्टि पर प्रत्येक व्यक्ति के लिये अटल है। "आप भले तो जग भला" इस नित्य-स्मरणीय शुद्ध भाव के विचार से मनुष्य के विश्वास चित्त से कदापि नहीं हटने चाहिये और प्रत्येक को अपने मानसिक विचार इस ऊँचे दर्जे तक वढ़ा देने चाहिये, क्योंकि केवल हमारे विचार रूपी घोड़े ही हमको अपनी संसार यात्रा पूर्ण कराने में सहायक होते हैं। ऊंचे दर्जे के विचार ही हमको नित्य ऊंचा बनाते रहते हैं और नीचे दर्जे के विचार नीच ही बनाते जाते हैं। यथार्थ में हमारे विचारों की उत्कृष्टता केवल हमारे मन की शक्ति पर ही निर्भर है।

"A mind not to be changed by place or time,
The mind is its own place, and in itself
Can make a heaven of hell, a hell of heaven."

Milton. (ख)

(क) उत्तम कार्य के करने के विलासों का व्यसन सीखो।

(ख) वह मन जो देश और काल के प्रभाव से विकृत नहीं होता है वह अपना अधिष्ठान आप ही है और वह अपनी शुद्ध भावनाओं के प्रभाव से नरक में भी स्वर्गीय सुखों को अनुभव करता है और अपनी नीच भावनाओं से स्वर्ग में रहते भी नारकीय दुःख भोगता है।

"My mind to me a kingdom is,
Such perfect joy therein I find,
As far exceeds all earthly bliss
That God and Nature hath assigned."—*Byrd.* (क)

यह प्रत्येक के हृदय पर पत्थर की लकीर के समान दृढ़ हो जाना चाहिये कि जिसकी जैसी मति होती है उसकी वैसी ही गति और फल-प्राप्ति होती है। जिन लोगों के विचार हैं कि हम नीच हैं, और पापात्मा हैं, वे वास्तव में अनेक जन्म तक नीच और पापी ही बने रहते हैं। और जिन लोगों के विचार हैं कि हम शक्तिहीन, नाशवान् पदार्थ हैं वे वस्तुतः संसार को कुछ भी लाभ नहीं पहुंचा सकते हैं और उनका ही व्यवहारिक दृष्टि से भी नाश होता है। परन्तु इसके अतिरिक्त जिन लोगों के विचार हैं, कि हम सर्व शक्तिमान् हैं, हम पापरहित पुण्यात्मा हैं, हम अविनाशी हैं; वे ही यथार्थ में शुद्ध-संकल्प होते हैं। उनकी जो इच्छाएं होती हैं वे सब शीघ्र पूर्ण हो जाती हैं और उनके ही प्रसाद से संसार में मंगल रहता है।

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्ध सत्वः कामयते यांश्च कामान्। तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः॥ (ख)

(क) मेरे महदैश्वर्य का असाधारण कारण मेरा ही मन है उसमें मैं ऐसे सम्पूर्ण सुखों को प्राप्त करता हूं जो ईश्वर तथा माया निर्देशित समस्त सुखों से श्रेष्ठ हैं।

(ख) सर्वात्मा ब्रह्म को अपने आत्म भाव में प्राप्त हुए पुरुष को सर्व प्राप्ति होती है और ऐसा वह ज्ञानी जिन जिन लोकों की मन से कल्पना करता है और जिन जिन कामों की इच्छा करता है वह उन उन लोकों को तथा च उन उन संकल्पित भोगों को प्राप्त होता है। अतः श्रेयार्थी पुरुष को उचित है कि ऐसे आत्मज्ञ विद्वान् का अनुसरण करें।

ऐसे ही पुरुष हैं जो संसार का यथोचित उपकार कर सकते हैं, और संसार में स्वयं पुण्यवान् जीवन व्यतीत करते हैं, वे शरीर के शिथिल हो जाने पर भी अपनी मृत्यु नहीं मानते हैं। उन्हीं का यथार्थ में व्यवहार दृष्टि से भी नाश नहीं होता है। वे कभी मरते नहीं हैं, वरन् प्रतिक्षण जीवित रहते हैं। और नित्यप्रति संसार में लोगों के साथ वार्तालाप करते रहते हैं और उनको सुशिक्षा देते रहते हैं, वे प्रत्येक के हृदयों में बैठ कर सांसारिक व्यवहारों के केन्द्र बन कर उनकी सफलता की चिन्ता में निमग्न हो संसार के लोगों की शक्ति को उत्तेजित करते रहते हैं।

"He is not dead, whose glorious mind,
Lifts thine on high,
To live in hearts, we have behind
Is not to die"—*Campbell.* (क)

प्यारो! ज्ञानी वीर महात्माओं की कभी मृत्यु नहीं होती है अर्थात् वे कभी मरते ही नहीं हैं, वरन् एक शरीर को छोड़ कर सब शरीरों में वास करते हैं और एक हृदय को छोड़ कर सब हृदयों में प्रवेश करके सब काम करते हैं। केवल शरीर के शिथिल हो जाने को ही वीर मृत्यु नहीं मानते हैं, वरन् वे अपने वास्तविक स्वरूप तथा अपने जीवन के पुरुषार्थों को सांसारिक विषयों में भूल जाने को ही यथार्थ मृत्यु मानते हैं। ऐसे लोग संसार में सांस लेते हुए भी मृतक के समान हैं।

"Cowards die many times before their death,
The valiant never tastes of death but once."
—*Shakespeare.* (ख)

(क) वह पुरुष मृत नहीं है जिसका यशस्वी तेजस्वी मन तुम्हारे मन को उत्तेजित करता है। इस प्रकार मन के दूसरे के चित्त में बस जाने से यह शिक्षा प्रदान होती है कि यह वास्तविक मरण नहीं है।

(ख) पुरुषार्थ हीन (अनर्थक) पुरुषों को अपनी वास्तविक मृत्यु से प्रथम कई बार मरण हो जाता है परन्तु वीर पुरुषों को वास्तविक मृत्यु से अतिरिक्त प्रकारान्तर मृत्यु नहीं होती है।

ऊपर के लेख से हमको स्पष्ट है कि हमारे मानसिक विचार और व्यवहारिक कर्म ही संसार में हमको ऊंच और नीच बनाते हैं, तो हम अपने पांव में आप ही क्यों कुल्हाड़ी मारें, क्यों न अपने को अजर अमर नित्य अविनाशी ब्रह्म मानें जब कि हम वास्तव में वैसे ही हैं। संसार चक्र को संकेतों पर चलाने वाली शक्ति हम ही में है।

"Man is his own star and the Soul that can
Render an honest and a perfect-man.
Commands all light, all influenc , all fate.
Nothing to him falls early or too late."

—*Hetcher.* (क)

कर्म और स्वतंत्रता

इस न्याय पर निश्चय करके संसार में प्रत्येक मनुष्य को यह विचार अपने जीवन का उद्देश्य मान लेना चाहिए कि हम अपने जीवन में कोई ऐसा महान् उदारता का काम कर जांय जो संसार को वास्तविक लाभ-दायक हो, इसी रीति पर प्रत्येक व्यक्ति के पुरुषार्थ से संसार में उन्नति हुई है। परन्तु ऐसे उदारता के प्रत्येक कर्म्म अपने ढंग के निराले हों। अपने ही पुरुषार्थ के किये हुए काम ठीक होते हैं। किसी नये काम के ही करने को पुरुषार्थ कहते हैं, औरों के किये हुए काम को फिर करना अनुकरण (नकल) कहलाता है। अनु-करण करने का काम नक्कालों का है न कि वीर पुरुषों का। अपने ही पैरों के बल खड़े रहने वाले वीर ही संसार में टिक सकते हैं और योग्यता प्राप्त करते हैं।

"Fortune favours the bold" (ख)

औरों के आधार पर अपने जीवन को व्यतीत करने वालों की कब तक निभेगी। दूसरों के सहारे पर अपनी निवाहने वाले संसार में स्वार्थी कहलाते हैं। ऐसे लोग प्रायः औरों की कमाई का सुख लूटना चाहते हैं, औरों के दुःखों से अपने सुख की इच्छा करते हैं,

---

(क) मनुष्य अपने महत्व का स्वयं ही अधिष्ठान है वह शरीरी जो किसी व्यक्ति को सरल और निपुण बनाता है वह ऐश्वर्यशाली भाग्यवान होता है और कालादि के नियमों से अतीत रहता है।

(ख) पुरुषार्थी पुरुष पर सम्पत्ति अनुग्रह करती है।

और इन्हीं लक्षणों से वे अपना पुरुषार्थ समझते हैं। यथार्थ में तो संसार में काम करने का यह सिद्धान्त नहीं है—परमार्थ तो प्रकृति-सिद्ध है और स्वार्थ का सर्व प्रकार से नाश है। संसार में इस उत्साह से काम करने वाले विचारशील परमार्थी महानुभावों की प्रकृति स्वयं सहायक है और उनके पारमार्थिक कार्य ही संसार में फलीभूत भी होते हैं। स्वार्थ तो प्रकृति में टिक ही नहीं सकता है।

"Work and the world works with you,
Loaf and you loaf alone.
This strenuous world's a continuous whirl,
It offers no place for the drone." (क)

संसार में प्रत्येक व्यक्ति को परमार्थी होना चाहिये, यह विचार चित्त में लाना कदापि उचित नहीं है कि यदि हम अपने अर्थ को छोड़ परमार्थ में लग जांय तो अपना अर्थ सिद्ध हो जाने से रह जायगा, यह बड़ी अज्ञानता है। औरों की भलाई में लगा रहना ही वीर पुरुष अपना अर्थ साधन मानते हैं। वास्तव में अपनापन और परायापन भाव कुछ है ही नहीं। आत्मा यदि कोई भिन्न वस्तु होती तो अपनापन और परायापन माना जाता और हमको संसार में स्वयं अपने ही अर्थ के निमित्त अपने मानसिक और व्यवहारिक कर्मों में भी परस्पर भेद और संकोच होता, परन्तु जब आत्मा के एकत्व का मन में समर्थन हो जाता है तो हम संसार में कर्म करते हुए भी सर्व प्रकार के भेद भाव जन्य अनेक भय शोकादिकों से दूर रहते हैं।

"तत्र कोमोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ख)

संसार में स्वार्थ और परमार्थ कर्म के विचार से तीन श्रेणी के मनुष्य हैं, एक तो वे हैं जो स्वयं सब प्रकार के पुरुषार्थ से हीन

(क) निःस्वार्थ कर्म करो और संसार तुम्हारे साथ काम करेगा और स्वार्थ परायण होने से तुम केवल उदासीन ही बने रहोगे। यह दारुण संसार निरन्तर आवर्तरूप है जिसमें पुरुषार्थहीन पुरुष स्थित नहीं रह सकता है।

(ख) स्थूल सूक्ष्म स्थावर जंगमादि सर्व दृष्टिमात्र में सम भाव रखने वाला पुरुष त्रिविध दुःखों से बाधित नहीं होता है। "भेद भावना मन से छोड़, निर्भय बैठा मूछ मरोड़"—श्री स्वामी रामतीर्थ।

रहते हैं और अपने शरीर में आलस्य ईर्षा द्वेषादिक हीन विषयों से इस ढंग पर मोहित रहते हैं कि संसार में वे अन्य प्राणियों के लिये भार बने रहते हैं। ऐसे लोग सब से नीच कक्षा के हैं और उनकी आन्तरिक शक्तियां निरे तमोगुण करके इस प्रकार आवृत रहती हैं कि उनको संसार में अपने शरीर से अन्य और कुछ नहीं सूझता है। दूसरे वे लोग हैं जो अपने शरीर को देवता के समान पूजा करते हैं और केवल अपने विषयों की तृप्ति के निमित्त उनके सब पुरुषार्थ होते हैं और अपने विषयों की तृप्ति करना ही वे लोग अपना लक्ष्य मानते हैं, ऐसे लोग संसार में सब वस्तुओं को अपने ही विषय भोग की सामग्री मानते हैं और इस हेतु से अपने जीवन में अनेक प्रकार के घोर पाप करते हुए संसार के लिये भार बने रहते हैं और स्वयं परिणाम में अनेक दुःख सहते हैं। संसार का ऐसे लोगों से कुछ कल्याण नहीं हो सकता है, और प्रत्येक प्राणी इनसे अत्यन्त दुःखित रहता है। ऐसे लोगों की आन्तरिक शक्तियां तम और तीव्र रजोगुण से अत्यन्त आवृत और विक्षिप्त रहती हैं। इनके हृदय काले रंग के समान हीन गुण वाले होते हैं, जिनमें सदैव अन्ध स्वार्थ समाया रहता है। (काले रंग का गुण है कि इसमें सूर्य का प्रकाश और प्रकृति के सब प्रकार के रङ्ग लय हो जाते हैं और उसके बाहर भीतर सर्वत्र काला अन्धकार समाया रहता है) परन्तु तीसरे और सब से उत्तम कक्षा के वे लोग हैं जिनके सब कर्म्म पारमार्थिक होते हैं। ऐसे लोग मन कर्म्म और वाणी से सारे संसार को समान लाभ पहुंचाने को उद्यत रहते हैं, प्रकृति के साथ एकता करके कर्म्म करते हैं और संसार के ही उपकार के निमित्त अपने जीवन को मानते हैं। "Life for work's sake." वे ही लोग स्वभावतः शुद्ध संकल्प भी होते हैं।

"शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः। तीर्णाः स्वयं भीम भवार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥"—श्रीमच्छंकर (क)

(क) वसन्त ऋतु के समान महानुभाव शान्त सत्पुरुष लोकोपकार करते हुए संसार में भ्रमण करते हैं और आप संसार के दारुण दुःख से निर्मुक्त होते हुए इतर जनों को भी निष्कारण सदुपदेश द्वारा सांसारिक दुःखों से निर्मुक्त करते हैं।

ऐसे ही लोग हैं जिनके लिये संसार में सर्वत्र वाहर भीतर निर्मल आनन्द छाया रहता है। इनके हृदय सदैव श्वेत रङ्ग के समान निर्मल, उज्ज्वल, प्रफुल्लित और विकासमान रहते हैं। (श्वेत रङ्ग का गुण है कि इसमें सूर्य्य का प्रकाश वाहर भीतर एक रूप से व्याप्त रहता है, इसमें प्रकृति के सव रङ्ग ऐक्य रखते हैं) इसी प्रकार परमार्थशील ज्ञानी वीर पुरुष निष्कपट चित्त होकर शुद्ध भाव से संसार में विचरते हैं और अपने जीवन भर प्रकृति के साथ ऐक्य रख कर कर्म करते हैं। वास्तविक विचार तो इस प्रकार से है, कि मनुष्य सारी सृष्टि पर अति उत्तम और विवेकयुक्त प्राणी होने के कारण अपने जीवन में श्रेष्ठ कर्म का अधिकारी है। और अन्य प्राणियों की अपेक्षा इसको कर्म करने की भी स्वाभाविक स्वतन्त्रता है। इस निमित्त मनुष्य के जीवन में कर्म की व्यवस्था भी विशेष विचार करने के योग्य है। मनुष्य अपने कर्मों के ही प्रभाव से अपनी अवस्था को उच्च तथा नीच वनाता है। हमारे वाह्य व्यवहारिक कर्मों के अनुसार हमारी आन्तरिक शक्तियां भी वनती जाती हैं, उच्च कर्मों के प्रभाव से हमारे संकल्प भी उच्च ही होते हैं और वैसे ही हमारी आन्तरिक शक्तियां भी वढ़ती जाती हैं। परन्तु नीच कर्मों के प्रभाव से हम सव प्रकार से नीच ही वनते हैं और इस प्रकार हम अपने उचित पुरुपार्थ को छोड़ अन्य हीन कर्मों में लग कर अपने असली स्वरूप को भी भूलते जाते हैं और अपने जीवन भर अनेक दुःख पाते हैं। यथा—"एक सिंहिनी का दूध पीता वच्चा अकस्मात् सिंहिनी से छूट कर एक मेमनों के झुंड में मिल गया और उन्हीं के संग में दूध पीकर घास पत्ती खाकर कुछ काल के अनन्तर खूब हृष्ट पुष्ट वलवान् सिंह वन गया, परन्तु मेमनों के समान आचरण और कर्म करता हुआ वह उन्हीं के समान कायर और डरपोक वन गया और वन के अन्य प्राणी सिंह व्याघ्रादिकों को देख कर भयभीत रहता था और मेमनों के संग में मारा मारा भागा फिरता ठोकरें खाता अपने जीवन भर अनेक दुःख पाता था। इस प्रकार अपने वास्तविक पराक्रम से अन्य हीन कर्मों में लग जाने से उसका मानसिक वल विलकुल ही जाता रहा और वह अपने यथार्थ सिंह-स्वरूप को यहां तक भूल गया कि जंगल के अन्य पराक्रमी सिंहों को देख कर डरता छिपता रहता था।" परन्तु, प्यारो! यह दशा हमारी तव ही तक रहती हैं जव तक

हम अपने वास्तविक पुरुषार्थ को भूले हुए हैं। अपने पुरुषार्थ की सिद्धि से हम अपने स्वरूप को भी जान जाते हैं। वास्तव में तो हम पृथ्वी पर निःशंक होकर स्वेच्छा पूर्वक विचरने वाले सारी सृष्टि पर निर्विवाद शासन कर्त्ता सिद्ध हैं।

"Man is tho lord of Oreation."—*Biblo*.(क)

मनुष्य तो स्वभाव ही से अपने पुरुषार्थ के बल से अपनी मानसिक उन्नति करने के योग्य है। सूक्ष्मतः यह भी विचार है कि मनुष्य का प्रकृति के साथ अति घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण यह प्रकृति को सहायता करने का उत्तम अधिकारी है।

इसी निमित्त मनुष्य के शरीर की बनावट और इसके गुण अन्य हीन पशुओं से विलक्षण हैं और इन्हीं हेतुओं करके मनुष्य का यह मुख्य धर्म है कि यह प्रकृति के साथ ऐक्य रख कर इसके कार्य्यों में सहायता करे और निःस्वार्थ होकर सृष्टि को रचे, अन्य प्राणियों की रक्षा करे और उन्हें सुख पहुंचावे। यदि मनुष्य अपने इस परम कर्तव्य को छोड़ कर अन्य स्वार्थ तथा वैषयिक कर्मों के पीछे लग जाय तो क्या इसका यह व्यवहार अनर्थक न होगा और वह अपने वास्तविक उच्च पद से पतित न हो जायगा? क्योंकि यह भी निश्चित है कि सृष्टि पर जितनी भी महाशक्तियां वर्तमान हैं वे सब प्रकृति ही के अङ्ग हैं और इसी नीति के अनुसार प्रत्येक पदार्थ रेणु से लेकर सुमेरु पर्य्यन्त चर तथा अचर, अग्नि, जल, वायु तथा सूर्य्य चन्द्रादिक प्रत्येक अपने गुण और स्वभावानुसार निरन्तर निज मर्य्यादा में तत्पर रहते हैं। यदि इनमें से एक भी शक्ति निज गुण और कर्म को छोड़ अन्य कर्मों में प्रवृत्त हो जाय तो क्या सम्भावना हो सकती है कि सृष्टि क्षण भर भी स्थिति रह सकेगी। यदि सूर्य्य में अपने तेज और प्रकाश से अन्य अन्धकार और शीतलता आ जाय जल में कठोरता, वायु में उष्णता आदि विपरीत गुण आ जांय और पृथ्वी में नीरसता आ जाय तो क्या सम्भव नहीं है कि सारी सृष्टि का क्षण भर में ही नाश हो जाय। इसी प्रकार यदि मनुष्य भी अहिंसा, निःस्वार्थपरता तथा संसार के उपकारी अपने अनेक स्वाविक शुभ गुणों से अन्य विपरीत वैषयिक हीन कर्मों में प्रवृत्त हो

(क) मनुष्य समस्त सृष्टि में श्रेष्ठ प्राणी है।

जाय तो क्या कभी संसार में किसी प्राणी को भी सुख और शान्ति प्राप्त हो सकती है ? और सृष्टि पर प्रकृति के नियमों का पता लग सकता है। इसलिये संसार में अपने जीवन के परम कर्तव्य कर्मों को और अपने मानसिक व्यवहारों को यथार्थ निरूपण करने के प्रथम हमारे सब कर्म और व्यवहार अनुभव-युक्त होने चाहिए और एवं जो कुछ भी कर्म हम संसार के उपकार के लिये करना चाहें उनका आरम्भ में अपना अनुभव होना उचित है। इस प्रकार जब हम अपने ही व्यवहार में किसी कार्य का उचित अनुभव कर चुकते हैं तो निश्चय कर लेना ठीक है कि वही कर्म हर समय पर प्रत्येक को लाभदायक हो सकता है। यह विचार अपने मन में दृढ़ हो जाना चाहिये कि हमारी प्रकृति के अनुकूल जितने भी कर्म हैं वे संसार में सब के लिये समान उपयोगी हैं। क्योंकि हम अपने अनुभव तथा प्रत्यक्ष प्रमाणों से यह देखते हैं कि प्रकृति के अनुकूल जो कार्य तथा विचार संसार में एक पदार्थ के लिये ठीक हैं वही दूसरे के लिये भी ठीक हैं, इसी नीति के अनुसार तीसरे के लिये भी ठीक हैं और वैसे ही सब के लिये ठीक हैं। क्योंकि संसार तो वास्तव में एक निर्मल दर्पण के समान है जिसमें हम सर्वत्र एक ही अखण्ड निर्मल शक्ति को व्याप्त काम करती देखते हैं, और जो शक्ति हमारे हित काम करती रहती है वही शक्ति दूसरे के लिये भी काम करती है और यही चन्द्र सूर्यादिक के बीच में भी काम करती है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष है कि जैसे विचार हम व्यवहार में किसी व्यक्ति के लिये अपने मन में ठानते रहते हैं वैसे ही हम अन्य व्यक्ति को भी अपने लिये करते देखते हैं और इसी तरह हम किसी प्राणी के लिये जैसे शुभ तथा अशुभ विचार अपने चित्त में चिन्तन करते रहते हैं, सम्भव है कि अन्य प्राणी भी हमारे लिये वैसी ही भावना अपने चित्त में रखते हों। तात्पर्य यह है कि प्रकृति के नियम सर्वत्र एक समान हैं और सब के लिये एक समान अटल है। सृष्टि के इन दृढ़ नियमों में कदापि तनिक भी भेद नहीं हो सकता है।

"Art may err but nature can not miss."

Dryden. (क)

(क) मनुष्य के कला-कौशल समस्त निष्फल हो जाते हैं परन्तु प्राकृतिक नियम कदापि निष्फल नहीं होते हैं।

पुनः यह भी निश्चित है कि प्रकृति के अनुकूल हमारे जितने भी कर्म हैं सब सुलभ और अपने आप होने वाले हैं, ऐसे कर्मों की सिद्धि में हमको किंचित् भी प्रयास नहीं होता है। परन्तु प्रकृति के प्रतिकूल जितने कर्म हैं सब कठिन और दुःख देने वाले होते हैं। संसार में अपनी भलाई चाहने के लिये हमको उचित है कि प्रकृति के नियमों का पालन करना ही अपना लक्ष्य मानें और प्रकृति के अटल नियमों के बाहर तनिक भी पांव न रक्खें। यदि हम इन नियमों का किंचित् मात्र भी उल्लंघन कर बैठें तो फिर अपने लक्ष्य से च्युत होकर संभलना कठिन है:—

लक्ष्यच्युतं चेद्यदिचित्तमीषद्बहिर्मुखं सन्निपतेत्ततस्ततः। प्रमादतः प्रच्युतकेलिकंदुकः सोपान-पंक्तौ पतितो यथातथा॥—श्रीमच्छंकर (क)

संसार में प्रकृति के नियमों पर चलने वाले वीर ही सच्चे कर्मिष्ठी कहलाते हैं और वे ही अपने जीवन में सांसारिक कर्म करते हुए सच्ची स्वतन्त्रता का आनन्द भी लेते हैं। ऐसे ज्ञानी कर्म-वीर महात्माओं के सब व्यवहारिक कर्म सच्चे और प्रकृति के अनुकूल होते हैं। उनकी सांसारिक आवश्यकताएं भी अति स्वल्प और अपने आप पूरी होने वाली होती हैं क्योंकि संसार में हमारी वास्तविक आवश्यकताएं भी स्वभावतः अत्यन्त स्वल्प और सुलभ हैं।

"Nature is a frugal mother,
And never gives without measure."

—*Emerson*. (ख)

संसार में कामना रख कर अपनी वास्तविक आवश्यकताओं से अधिक प्राप्त करने की आशा करने वाले पुरुष अपने जीवन में कभी सच्ची स्वतन्त्रता का सुख प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

(क) यदि चित्त अपने लक्ष्य से च्युत हो जाय तो बाह्य विषयों में प्रवृत्त होकर यत्र तत्र चलायमान हो जाता है जैसे हाथ से सीढ़ियों पर गिरा हुआ गेंद जहां तहां गिरता जाता है।

(ख) प्रकृति परिमित-व्ययी मातृवत् हमारी हितैषिणी है, वह अपरिमित मात्रा में वस्तुओं को प्रदान नहीं करती है।

स्थूल विचार से यों तो संसार में प्रत्येक प्राणी अपने व्यवसाय के अनुसार अपने ही अर्थ के निमित्त कर्म करने को स्वतन्त्र है परन्तु जिन लोगों की मानसिक भावनाएं अति संकुचित रहती हैं, वे ही सच्चे कैदी हैं। मानसिक स्वतन्त्रता ही सच्ची स्वतन्त्रता है। मानसिक स्वतन्त्रता का अनुभव करता हुआ ज्ञानी वीर दुनियवी कारागार में पड़ा हुआ भी सच्ची स्वतन्त्रता का सुख लेता है।

"Stone walls do not a prison make
Nor iron bars a cage.
Minds innocent and quiet take
That for an hermitage"–*Richard Lovelane.*(क)

अपनी मानसिक शक्तियों को इस सीमा तक बढ़ाये हुए प्रकृति के साथ एकता रख कर संसार में विचरने वाले ज्ञानी महात्माओं को सारा जगत अपना ही आनन्द स्वरूप प्रतीत होता है। प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में अपने विचारों को इसी सीमा तक पहुंचाने की चाह होनी चाहिये। प्रकृति के साथ एकता के पद को प्राप्त हुए ज्ञानी वीर महात्माओं को सारा जगत आनन्दमय प्रतीत होता है। संसार में भेदभावना हो जाने से हमको अनेक दुःख सहने पड़ते हैं। हर घड़ी स्मरण रहे कि यह भेद-दृष्टि ही हमको दुःख देती है और बन्धन में डालती है। यही अज्ञान का पर्दा हमारे आगे पड़ा हुआ है, जिससे हमको संसार अपने से पृथक भान होता है। वास्तव में तो हम संसार से पृथक नहीं हैं और संसार हमसे पृथक नहीं है।

प्रत्येक व्यक्ति को इस पर्दे को हटाने का प्रयत्न करना उचित है। जब ज्ञानबल से यह पर्दा हट जाता है तो हमको अपना आनन्द स्वरूप समक्ष देख पड़ता है। इस पर्दे को हटाने के लिये हमको किसी प्रकार के बाहरी बल की आवश्यकता नहीं होती है, वरन् हमारी आन्तरिक शक्तियां ही इस पर्दे को हटा सकती हैं। जिन ज्ञानी वीर महात्माओं ने अपनी आन्तरिक शक्तियों को बढ़ाया है, संसार में उनके लिये सच्चे आनन्द के द्वार खुले पड़े रहते हैं।

(क) निर्विकार शान्तचित्त पुरुष के लिये पत्थरों का बना हुआ बन्दिगृह दुःखदायी नहीं होता है और न उसको लोहे के छड़ों के बने हुए पिंजरे दुःखदायी होते हैं, वरन् वह इनको शान्तिमय सुख का आश्रम मानता है।

यों तो प्रत्येक मनुष्य में कर्म करने की हर प्रकार की उच्च शक्ति स्वतः विद्यमान रहती है, परन्तु पुरुषार्थ-हीन और दैव-वादियों की ये शक्तियां दवी हुई अवस्था में रहती हैं। ऐसे लोगों के विचार रूपी घोड़े प्रति क्षण बन्धन में बंधे रहते हैं और उनको कभी स्वतन्त्रता नहीं मिलती है, उन पर प्रत्येक घड़ी कांटेदार रास पड़ी रहती है। बन्धन में पड़े हुए घोड़े कभी तीव्र और सही मार्ग पर नहीं चलते हैं और सवार को लक्षित स्थान तक नहीं पहुंचा सकते हैं। उचित है कि हम अपने घोड़ों को हर घड़ी फेरते रहें और उन्हें अपनी चाह भर चलने दें, जिससे वे हमें शीघ्र ही सीमा के द्वार पर पहुंचावें और हमें अपने लक्ष्य को लक्षित करने में सहायता देवें। दैव-वादी ही सदैव अपने संचित कर्मों के आधीन रहते हैं। परन्तु जहां आधीनता की जड़ बिलकुल ही उड़ा दी जाती है तो फिर बन्धन किसका। वीर महात्मा पुरुष कभी किसी के आधीन नहीं रहते हैं, वे सारे जगत को अपने ही बीच में समाया देखते हैं।

"Slave to no sect who takes no private road,
But looks through nature up to nature's God."

—*Shakspeare.* (क)

आधीन तो उसके होना पड़ता है जिससे कुछ चाहा जावे। परन्तु वीर अपने कर्मों के फल भोग तक की तो इच्छा ही नहीं करते हैं, तो आधीनता किसकी? यह नीच आधीनता ही तो हमें बन्धन में डालती रहती है।

इस प्रकार के निषेध से यह अभिप्राय नहीं है कि मनुष्य कोई कर्म न करे—कर्म करना तो शरीर का मुख्य धर्म है, विना कर्म किये शरीर क्षण भर भी स्थित नहीं रह सकता है:—

"नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्"

—भ० गीता (क)

(क) वह ज्ञानी पुरुष संसार में किसी के आधीन नहीं रहता है, जो अव्यक्त (गुप्त) नीति का अवलंब नहीं करता है, वरन् प्रकृति के कार्य-कलाप द्वारा प्रकृत्यधिष्ठित ब्रह्म को उपलब्ध करता है।

(ख) इस संसार में कोई भी प्राणी क्षण भर विना कर्म के किये नहीं स्थित रह सकता है।

परन्तु आधीनता का अत्यन्त तिरस्कार होना चाहिये। कर्म का निषेध तो हम किसी अवस्था में भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि कर्म का निषेध तो प्रकृति के विरुद्ध है। यदि हम अपने ही शरीर की ओर देखते हैं तो हमको ज्ञात होता है कि हम किसी अवस्था में भी क्षण भर कर्म किये विना नहीं रहते हैं। सांसारिक व्यवहार से अन्य हमारे अपने ही शरीर के निमित्त दो प्रकार के कर्म होते रहते हैं। एक तो वे हैं जिनको हम अपनी मन बुद्धि की प्रेरणा से अपनी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा करते हैं और दूसरे वे कर्म हैं जिनको हम विना अपनी इन्द्रियों के वल से स्वभावतः निरन्तर प्रति क्षण अपने शरीर के भीतर करते रहते हैं। हम अन्नों को पाचन कर अपने शरीर के प्रत्येक अवयवों को पुष्ट करते हैं, अपनी नाड़ियों में रुधिर का संचार करते रहते हैं, अपने केशों को वढ़ाते हैं इत्यादि इत्यादि अनेक प्रकार के कर्म निरन्तर अपने शरीर के ही भीतर प्रतिक्षण करते ही रहते हैं। इसी प्रकार अपने पुरुषार्थ से संसार के हितार्थ नित्य कर्म करते रहना भी हमारा प्रधान धर्म है और जिस नियम पर प्रकृति सदैव एक रस होकर निःस्वार्थ हो कर्म करती जाती है उसी नियमानुसार हमारे प्रत्येक सांसारिक कर्म भी होने चाहिये। अपने लक्ष्य साधन की यही सुगम रीति है। संसार में प्रकृति के नियम के अनुसार कर्म करने वाले आसक्त नहीं कहलाते हैं, उनको कर्मों के फल की विशेष प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है। जो वीर अपने सुकृत कर्मों के फल भोग की इच्छा नहीं करते हैं, संसार में वही परमानन्द का स्वाद लेते हैं और वही पुरुष संसार में सच्चे क्रियावान भी कहलाते हैं।

"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥"

—भ० गीता (क)

(क) जो विवेकी विद्वान् अपने निष्काम कर्म फल की किंचिन्मात्र भी अपेक्षा नहीं करता हुआ समग्र कर्म करता है वह कर्म फल कामनाओं का परित्याग करने से सच्चा त्यागी है केवल विहित कर्म के परित्यागमात्र से ही वह अक्रिय नहीं कहा जाता है।

संसार में आशा के त्याग का बहुत बड़ा माहात्म्य है। जिन वीर पुरुषों ने आशा का त्याग किया है, उन्होंने जगत को अपना दास बना छोड़ा है। आशा के त्याग से लेखक का यह अभिप्राय नहीं है कि मनुष्य संसार में कोई उत्साह या अभीष्ट न रक्खें।

"Woe to him who is faint-hearted." (क)

परन्तु उनमें आसक्ति न रहे। संसार से असंग रहने वाले वीर ही सुख की नींद सोते हैं, चैन से एक रूखा टुकड़ा खाकर ठंढी सांस भरते हैं। संसार में आशा की पाशा में फंसे हुए विषयी पुरुष ही अनेक दुःख पाते हैं और इसी से उनके संसार के सारे काम भी बिगड़ते हैं। याद रहे जिन वीर पुरुषों का सच्चा त्याग होता है उनके लिये संसार में कोई बंधन नहीं है, उनकी अभेद-दृष्टि में न तो कर्म है न आशा है न दुःख है और न सुख है। भेद-दृष्टि वाले ही इन सांसारिक विषयों को अपना सुख मानते हैं। परन्तु सांसारिक सुख तो सब वैषयिक और क्षणिक हैं। वीर क्षणिक आनन्द को नहीं चाहते हैं, वे नित्यानन्द पद को ही अपना लक्ष्य मानते हैं, वे हर घड़ी निज आनन्द के समुद्र में क्रीड़ा करते रहते हैं और निज स्वरूप को अपने आप प्रेम करते रहते हैं। जो ज्ञानी पुरुष अपनी आत्मा को आप ही प्रेम करना सीख चुका है, सम्भव है वह सारे विश्व को अपने ही समान प्रेम करेगा—क्योंकि वह तो सारे जगत को अपना ही आत्मस्वरूप देखता है, अपनी आत्मा से कुछ भी भिन्न नहीं मानता है। इस विश्वास पर निश्चय करने वाला ज्ञानी वीर संसार में कर्म करता हुआ भी सच्ची स्वतन्त्रता का अनुभव करता है और सारे विश्व में अपना ही स्वरूप देखने लगता है। कर्म का फल तो यही है कि हम अपने देहाध्यास को कर्मों की क्रिया में भूल जांय। हमारे जीवन के सारे कर्मों की सीमा वहीं पर समाप्त होती है जब हम फिर संसार में अपने करने योग्य कुछ भी कर्म नहीं पाते हैं और सब कर्मों की अपने ही में समाप्ति देखने लगते हैं।

किं करोमि क गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम्।
आत्मना पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा॥

(क) उत्साहहीन-चित्तवाले पुरुष को धिक्कार है।

सबाह्याभ्यन्तरे देहे ह्यधऊर्ध्वं च दिक्षु च।
इत आत्मा तथेहात्मा नास्त्यनात्ममयं जगत् ॥
न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न यन्मयि।
किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं संविन्मयं ततम् ॥

भावार्थ—कहां जाऊं ? किसे जोड़ूं ? किसे लेलूं ? करूं क्या मैं ?
मैं इक तूफान क्या मन का हूं ? पुर हैरत तमाशा मैं ?
नहीं जो कुछ, नहीं मैं हूं ? इधर मैं हूं, उधर मैं हूं ?
मैं चाहूं क्या ? किसे ढूढ़ूं ? सभों में, ताना बाना मैं ?
मैं बातिन में अयां ज़ेर-व-ज़बर। चप रास्त पेश-व-पस।
जहां मैं हर मकां मैं हर ज़मां। हूंगा सदा था मैं ॥
—श्रीस्वामी रामतीर्थ।

ज्ञानवानों के जीवन के कर्म इसी शुद्ध भावना के साथ लय होते जाते हैं और उनके चित्त में प्रेम का स्वच्छ विकाश हो जाता है। वही हमारे सच्चे कर्म हैं। वह कर्म, किस काम का जिससे कर्मिष्ठी के चित्त में प्रेम भाव न उत्पन्न हो जाय, वह अपने स्वरूप को आप ही न देखने लगे और उसके निज आनन्द के समुद्र में गोते न लगने लगे।

"आत्मक्रीड़ा आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः" (क)

[स्वच्छ प्रेम]

अपने जीवन में हमको यह कर्म परम साध्य है कि हम निज स्वरूप को देखें, अपने को आप ही प्रेम करना सीखें और अपनी आत्मा के साथ आप ही बात-चीत करने की बान डालें। संसार में हमारा परम स्वार्थ यही है, इसी से हमारी आत्मा का प्रकाश होता जाता है और हमारी बुद्धि आदिक आन्तरिक शक्तियों की उन्नति और विस्तार भी होता जाता है। हम व्यवहार में भी देखते हैं कि जिस संसारी पुरुष का अपने घर बार पर, अपनी स्त्री पर, अपने बाल-बच्चों पर, अपने सम्बन्धियों पर स्वच्छ और निःस्वार्थ प्रेम होता है, निश्चय है कि वह अपने देश ही

(क) आत्मा ही में क्रीड़ा करने वाला आत्मा ही में प्रीति (रमण) करने वाला इस प्रकार आत्मोपयोगी क्रिया करने वाला पुरुष ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ है।

नहीं, बल्कि सारे जगत को अपने ही घर के समान प्रेम करता है और अपने ही घर के समान सब की भलाई चाहता है—ऐसे ही प्रेमी पुरुष स्वयं भी अन्य प्राणियों से प्रेम किये जाते हैं। यह विचार प्रत्येक के हृदय पर पत्थर की लकीर के समान दृढ़ हो जाना चाहिये कि प्रकृति में भलाई के बदले भलाई ही होती है। संसार में हमको प्रेम के बदले प्रेम ही मिलता है। इस बात को अनुभव में लाकर जांच सकते हैं कि बुराई के बदले भलाई कभी नहीं हो सकती है, भय के बदले में प्रेम कदापि नहीं मिल सकता है। यह संसार तो एक बड़ा विचित्र यंत्र है जिसमें हमारे प्रत्येक कर्म तथा व्यवहार प्रतिबिम्ब के रूप में बार बार हमारे अनुभव में आते हैं और हमारी वाणी की प्रतिध्वनि हमारे श्रवण में आती है। यदि हम संसार में प्रत्येक प्राणी से प्रेम का भाव रखते हैं और अपने मुख से प्रेम युक्त मधुर वाणी बोलते हैं तो क्या सम्भव नहीं है कि संसार में प्रत्येक प्राणी हमारे साथ भी प्रेम का व्यवहार न करे और हमारी सहायता करने को उद्यत न हो? प्रेम का तो बहुत बड़ा बल है। संसार में जो कार्य हमको दुःसाध्य प्रतीत होते हैं वे प्रेम के प्रभाव से सहज ही में हो पड़ते हैं, यहां तक कि जंगल के भयानक पशु आदिक भी प्रेमवश से हमारे आधीन हो जाते हैं और हमारे व्यवहारों में हमको सहायता करते हैं। स्वच्छ प्रेम प्रकृति के गुणों में अति तीव्र गुण है, परन्तु स्वच्छ प्रेम (Love) और ममता (Attachment) को एक समान मान लेना उचित नहीं है, ममता नित्य दुःखदायी होती है और प्रेम आनन्द को बढ़ाता है। प्रेम निःस्वार्थ पर होता है और ममता स्वार्थ से मिली होती है। प्रेम हमारी शक्तियों को उन्नत करता है और ममता हमको शक्ति-हीन बनाती है, तात्पर्य यह है कि एक मात्र शुद्ध प्रेम ही निर्विवाद अखण्ड और अनन्त सुख का कारण है।

"Love when faithful and well fixed is emenently the sanctifying element of human life, without it the soul can not reach its fullest height or holiness."

—*Ruskin.*(क)

(क) प्रेम जब पवित्र और दृढ़ होता है तो यह मनुष्य जीवन निर्मल करने का कारण होता है और ऐसे शुद्ध प्रेम से रहित प्राणी अपने पूर्ण उच्चाशय तथा पवित्रता का नहीं प्राप्त हो सकता है।

शुद्ध प्रेम का सृष्टि के सब प्रकार की वस्तुओं से सम्बन्ध है। बिना इस दृढ़ नियम के संसार में किसी वस्तु का भी क्षण भर स्थित रहना सम्भव नहीं है, यहां तक कि यदि इस शुद्ध नियम में तनिक भी बाधा हो पड़े तो सृष्टि में प्रलय हो जाय। प्रकृति की सर्व शक्तियां इसी प्रेम जाल के दृढ़ तन्तुओं में जकड़े हुए कुलाल चक्र-वत् भ्रमण करती हैं अर्थात् सूक्ष्म परमाणु से लेकर सुमेरु पर्य्यन्त चर तथा अचर सूर्य्य-मण्डल और भू-मण्डल, चन्द्र-मण्डल और तारा-मण्डल, जल, वायु आदिक प्रत्येक परस्पर प्रेम के बल से श्रृङ्खला की कड़ियों के समान एक दूसरे पर सहारा दिये रहते हैं। शुद्ध प्रेम का अवलम्ब करना ही अपने में परम शक्तियों की प्राप्ति का मूल साधन है। यही उपासना का फल है, यही समाधि है और यही स्वर्ग की प्राप्ति का साधक है। यदि हम विचार पूर्वक देखते हैं तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि समस्त सृष्टि प्रेम के प्रबल प्रवाह से परिपूर्ण है।

"Love rules the court, the camp, the grove,
And men below and saints above,
For love is heaven and heaven is love."—*Scott.* (क)

मनुष्य में तो संस्कारानुकूल प्रेम की भिन्न भिन्न कक्षाएं होती हैं—प्रथम अवस्था में मनुष्य का प्रेम निरन्तर अपने ही शरीर की ओर रहता है और उसकी प्रत्येक चेष्टाएं और कर्म अपनें ही चित्त को प्रसन्न करने के लिये होते हैं और उसके प्रेम का केन्द्र स्थान केवल अपना ही शरीर बना रहता है। युवा होने पर उसके प्रेम की सीमाएं भी बढ़ती है और वह अपने शरीर से अन्य अपनी स्त्री पर अपने ही शरीर की भांति प्रेम करता है। इस प्रकार उसके प्रेम की कक्षा दुगुनी हो जाती है। पश्चात् अपने और अपनी स्त्री की अपेक्षा उसका अपने पुत्रादिकों पर अधिक प्रेम होता है और उसके प्रेम की कक्षा तिगुनी बढ़ जाती है। फिर तो संसार में उसके प्रेम की

(क) शुद्ध प्रेम ही समस्त सभा समाजों का, सेनाओं का, बनादिकों का, तथा सांसारिक मनुष्य और स्वर्गीय देव गणों का नियामक है, क्योंकि शुद्ध प्रेम ही स्वर्गीय आनन्द दायक महान् हेतु है।

की कलाएं शनैः शनैः बढ़ती जाती हैं और वह पुरुष अपने प्रेम को घर से बाहर बढ़ा कर अपने समाज और अपने देश को अपने घर के समान प्रेम करने लगता है और अपने ही परिवार के समान सब की भलाई चाहता है। इसी प्रकार प्रेम की कलाएं बढ़ते बढ़ते उस पुरुष के व्यवहार की सीमाएं भी विस्तृत होती जाती हैं और वह पुरुष फिर सारे जगत को अपना ही घर और सब शरीरों को अपना ही शरीर मान बैठता है। फिर तो कुछ न पूछिये, उसके चित्त में प्रेम परिपक्व हो जाने पर उसके सब प्रकार के संशयों का नाश हो जाता है, बुद्धि पर से भेद का पर्दा हट जाता है और वह अपने बाहर भीतर सर्वत्र अपनी ही आत्मा को व्याप्त देखने लगता है। तात्पर्य्य यह है कि अपने में शुद्ध प्रेम का अवलम्बन करना और अपनी आन्तरिक शक्तियों को बढ़ाना एक ही बात है।

उपासना] अपने में शुद्ध प्रेम को बढ़ाना ईश्वर की उपासना का भी मूल साधन है।

He prayeth well who loveth best,
Both men and bird and beast,
He prayeth well who loveth well
All things both great and small."—*Coleridge.*(क)

परन्तु हमारे चित्त में प्रेम-भाव की कमी और ज्यादती होने के कारण उपासना के दो भेद हैं—

परमात्मा को अपने से भिन्न किसी विशेष स्थान तथा व्यक्ति में परिमित मान कर किसी कामना से पूजा करने को (अपरा) नीचे दर्जे की उपासना कहते हैं, परन्तु जहां परमात्मा को अपने बाहर भीतर सर्वत्र में व्याप्त मान निष्काम होकर उपासना की जाती है वह (परा) ऊंचे दर्जे की उपासना होती है। प्रथम अवस्था में तो नीचे दर्जे की उपासना ही अपने अन्तःकरण की शुद्धि का सहज उपाय है, पर सदा के लिये इस नीचे दर्जे की उपासना का ठेका कर लेना अनर्थक है। क्या सम्भव नहीं है कि यदि एक बार भी

(क) वही पुरुष सच्चा उपासक है जिसका मनुष्य, पशु, पक्षियों में सच्चा और समान प्रेम होता है और वही पुरुष सच्चा उपासक है जो छोटे और बड़े सब पर समान प्रेम करता है।

सच्चे मन से उपासना की जाय और मन का पर्दा न हटे और मनुष्य अपने बाहर भीतर अपने उपास्य देव परमात्मा को व्याप्त न मान ले ? क्या सदा के लिये परमात्मा के साथ लेनदेन का व्यवहार करके सौदागरी करना, कल्याणकारक हो सकता है ? क्या सदा के के लिये परमात्मा से सेव्य-सेवक-भाव रख कर सदैव ईश्वर से भयभीत रहना ही अपनी मुक्ति का कारण मान ईश्वर के साथ अपना ऐक्य (मेल) हो सकता है ? उपासना तो समीप बैठने को कहते हैं। यदि सेवा करते करते मालिक से ऐक्य न हो जाय और मालिक प्रसन्न होकर सेवक को अपने ही पास न बिठा ले और सेवक से अपना भेद न खोल ले तब तक सेवा निष्फल है। वह सेवा निरर्थक है जिससे मालिक प्रेमभाव से ऐसा न पिघल जाय कि सेवक और मालिक में एकता न हो जाय, सेवक का हृदय मालिक का ही हृदय और उसका मन मालिक का ही मन न बन जाय। इस प्रकार यदि प्रत्येक घड़ी सेवा करते करते चित्त से भेद न मिटता जाय और सेव्य सेवक दोनों में परस्पर एकता न बढ़ती जाय तो वह सेवा फलदायक नहीं है। विद्यार्थी यदि प्रति दिन विद्याध्ययन में उन्नति न करता जाय और जन्म भर एक ही कक्षा में रहे तो क्या वह विद्या में उन्नति कर सकता है और कभी अपने जीवन में विद्या का आनन्द प्राप्त कर सकता है ? यदि नीचे दर्जे की उपासना शुद्धान्तःकरण से एक बार भी की जाय तो क्या सम्भव नहीं है कि उपासक अपने उपास्य देव परमात्मा को बाहर भीतर सर्वत्र में व्याप्त न मान ले। वस्तुतः जीवन की मुक्ति के लिये उपासना सर्वावस्था में अति ही लाभदायक है। अपने लक्ष्य को लक्षित करने के लिये उपासना अति आवश्यक है। परन्तु स्मरण रहे कि उपासना की सिद्धि के लिये मन की निर्मलता अति ही उपयोगी है। अपने जीवन में आनन्द प्राप्त करने के लिये अपने मन को निर्मल रखना प्रत्येक को उचित है।

मन की निर्मलता मनुष्य की प्रत्येक अवस्था में मंगलकारक है,

[मानसिक निर्मलता]

उचित है कि अपने विचाररूपी घोड़ों से उत्तम काम लेने के लिये और इनको नित्य तीव्र और निरोग रखने के लिये इनके रहने का स्थान सदैव निर्मल और पवित्र रक्खा जाय। जिन लोगों के मन निर्मल और पवित्र रहते हैं

उनके ही विचार शुद्ध भी रह सकते हैं और जिनके विचार शुद्ध रहते हैं उनके कर्म भी पवित्र होते हैं । मनुष्य को अपने मन को निर्मल रखने के लिये अपने आस पास की वस्तुओं को और अपने व्यवहारों को नित्य स्वच्छ रखना अति उपयोगी है । वह केवल हमारी मनोभावनाएं ही हैं जिनके प्रबल प्रभाव से हम उच्च तथा नीच बनते जाते हैं—

"It is mind that makes the body rich and poor."
—*Shakespeare* (क)

अपने मन को निर्मल रखने वाला और उससे उत्तम काम लेता हुआ मनुष्य घरों में बैठ जंगलों के एकान्त का आनन्द ले सकता है और जंगलों में रहते हुए भी घर के सुखों का अनुभव करता है। बिना मन को वश में किये आनन्द की प्राप्ति असम्भव है। परमानन्द की प्राप्ति के हेतु मन की एकाग्रता ही श्रेष्ठ है । संसार में अपना कल्याण चाहने वालों को श्रेय है कि अपने मन को सदैव निर्मल रक्खें और इस हेतु अपने सांसारिक व्यवहारों को और अपने नित्य कर्मों को सदैव स्वच्छ निर्मल और निःस्वार्थ बना रक्खें। क्योंकि मन पर अपने नित्य कर्मों का और अपने सांसारिक व्यवहारों का बहुत बड़ा और अटल प्रभाव पड़ता है।

प्रत्येक संसारी पुरुष को इन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये कि शुद्ध विचार गृहस्थी को भी उतना ही लाभ पहुंचाते हैं, जितना किसी त्यागी को। संसार में त्यागी होकर रहना या संसारी बन कर रहना अपने ही मन के आधीन है, अपने मन को ठीक तौर पर काम में लाता हुआ गृहस्थ अपने घर में बैठा और संसार के कारागार में फंसा हुआ भी सच्चे त्याग का आनन्द लेता है, सच्ची वीरता इसी में है। सच्चा तैराक वही है जो लहराते हुए भयानक जल में से साफ पार निकल जाय। सीधी साफ सड़क पर कौन नहीं चल सकता है। मन की निर्मलता की परीक्षा तब ही है जब हम घोर सङ्कट में पड़े हुए भी मन के तोल को बराबर रखने को समर्थ हों और विषयों की सामग्री प्राप्त किये हुए भी हमारे चित्त में आसक्ति

(क) मन ही मनुष्यों को उच्च और नीच बनाता है। ठीक कहा है—
"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"

उत्पन्न न हो। मन की सच्ची निर्मलता तब ही है जब हम संसार के व्यवहारों में फंसे हुए भी अपने लक्ष्य साधन करने को समर्थ होते हैं, और आत्मानन्द में अपने देहाध्यास को भूले रहते हैं।

"It is easy in the world to live after the world's opinion, it is easy in the solitude to live after your own, but the great man is he who in the midst of crowd keeps with perfect sweetness the independence of solitude."—*Emerson*. (क)

इस प्रकार हमारी मनोवृत्तियों के दृढ़ हो जाने से हम अपने जीवन की प्रत्येक अवस्था में सुख का अनुभव करते रहते हैं। यों तो हमारी मनोवृत्तियों का व्यापार समुद्र की लहरों के समान चञ्चल और वायु के वेग के समान अति सूक्ष्म-गति है। परन्तु हमारे जीवन के व्यवहारानुकूल हमारी प्रत्येक अवस्था में मन की भिन्न दशाएं होती हैं। प्रथम अवस्था में मन पुष्प की कली के समान अति कोमल और कुंठित रहता है तत्पश्चात् जैसे कली पुष्ट होने लगती है, उसका भीतरी रंग सूक्ष्म तथा प्रगट होने लगता है। उसी प्रकार द्वितीय अवस्था में हमारी मनोवृत्तियां दृढ़ होने लगती हैं और संकल्प विकल्पादिक मन के किञ्चित् व्यापार उत्पन्न होने लगते हैं, फिर तृतीय अवस्था में जिस प्रकार कली पूर्ण रूप से खिल पड़ती है और वृक्ष के संस्कारानुकूल पुष्प का रंग निकलता है उसी प्रकार तृतीय अवस्था में हमारी मनोवृत्तियां भी पूर्णतया पुष्ट हो जाती हैं। और जीवन के संस्कारानुकूल हमारे मन के व्यापार भी होते हैं। अन्त को पुष्प जैसे नाश होकर एक आनन्दमय फल बन जाता है, वैसे ही अन्तिम अवस्था में हमारे ज्ञान परिपक्व हो जाने से हमारे मन के सङ्कल्प विकल्पादिक समस्त व्यापार लय हो जाते हैं और मन हमारे अखण्ड आनन्द की प्राप्ति का कारण हो जाता है। वास्तव में हमारी सब प्रकार की शक्तियों में मन ही सर्व इन्द्रियों को रथ

(क) संसार में साधारण जनसमूह की मति पर चलना सुगम है एवं एकान्त में अपनी ही मति के अनुमति पर चलना भी सुगम है परन्तु सच्चा निर्मल चित्त पुरुष वही है जो जनसमूह के बीच में रहते हुए भी एकान्त की स्वतन्त्रता का पूर्ण सख अनुभव करता है।

पर जुते हुए घोड़ों की रास के समान तत्तत्कार्य में नियोजित रखने को समर्थ है और हमारे लक्ष्य साधन को सब सामग्रियों में भी मन ही श्रेष्ठ है।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदाशुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमंपदम्॥(क)

इति जीवनादर्शे प्रथमो खण्डः समाप्तः॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथोबलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माऽहं ब्रह्म निराकुर्यांमामा ब्रह्म निराकारोद निराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥ ॐ शान्तिः ३॥

॥ ॐ शिवं ॐ॥

(क) जो पुरुष एकाग्र चित्त वाला ज्ञानवान होता है विद्वान् सारथी के सुशिक्षित घोड़ों के समान उसको इन्द्रियां वशीभूत होती हैं। जो विवेकी विद्वान् मन से युक्त सदा शुद्ध रहता है वह उस परम पद को प्राप्त होता है जिससे पुनरावृत्ति नहीं होती है। मन का सम्यक् निरोध किया है जिसने ऐसा ज्ञानवान् सारथीके समान वह संयमी पुरुष संसारमार्ग के पार परमात्माके परम पद को प्राप्त होता है।

द्वितीय खण्ड

शारीरिक व्यवहार

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ ॐ शान्तिः ३ ॥

हमारा यह भी सिद्धान्त है कि हमारे मानसिक सुखों की प्राप्ति हमारे शरीर के स्वास्थ्य पर निर्भर है।

"A sound body has a sound mind." (क)

अतः अपने जीवन में सुख की प्राप्ति के अर्थ अपने शरीर की स्वास्थ्यरक्षा का अहर्निश प्रयत्न करना सर्वथा श्रेयस्कर है।

व्यावहारिक विचार से विदित होता है कि प्रकृति के प्रत्येक कार्य्य सदैव आदरणीय और उपकारक हैं और मनुष्य-शरीर उन सब में अति ही उत्तम माना जाता है। मनुष्य अपनी बुद्धि के बल से अपने जीवन में अनेक प्रकार के मानसिक और लौकिक सुखों को प्राप्त कर सकता है और अपने शरीर की आरोग्यता के निमित्त सावधानता से व्यवहार करने को प्रतिक्षण स्वतन्त्र भी रहता है।

अन्तर्बहिर्भेद से आधि और व्याधि अर्थात् मानसिक और शारीरिक व्यथा रहित रहना ही यथार्थ आरोग्यता है और ऐसी ही उभय

(क) आरोग्य पुरुष का आरोग्य (निर्मल) मन होता है।

प्रकार की आरोग्यता से जीवन में परमानन्द प्राप्त होता है। आरोग्य रहने से केवल यही अभिप्राय नहीं है कि हमारे खान पान आदिक शरीर के प्रत्येक विषय-भोग सुख से हों, वरन् जिससे हमारे आन्तरिक सुखों की वृद्धि हो, शरीर के प्रत्येक अवयव पुष्ट हों और आयुष्य बढ़े,—यही सच्ची आरोग्यता है।

सूक्ष्म विचार से मानसिक और शारीरिक आरोग्यता का परस्पर अति घनिष्ट सम्बन्ध है और प्रायः इनका प्रभाव भी एक ही है, एक के आरोग्य रहने से दूसरा भी आरोग्य रहता है; किन्तु एक के रोगी रहने से दूसरा कदापि आरोग्य नहीं रह सकता है। ज्वर, कास, क्षय आदिक शरीर के रोग हैं और काम, क्रोध, ईर्षा, द्वेष, भय और अहंकार आदिक मन के रोग हैं। शरीर के रोग पहिले शरीर को पीड़ा करते हैं और फिर मन को भी दूषित करते हैं। शरीर के रोग से पीड़ित रहने से रोगी की मन आदिक आन्तरिक शक्तियां निर्बल हो जाती हैं, विषयेन्द्रियां प्रबल होती हैं और फिर काम क्रोधादिक मन के अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार यदि मन में एक भी विकार उत्पन्न हो जावे तो शरीर सहज ही में रोगग्रस्त हो जाता है। शरीर के सारे सुख जाते रहते हैं और आयुष्य क्षीण होता है।

मन मानसिक उत्तम भावनाओं के पथ्य से आरोग्य रहता है और शरीर खान पान आदिक उत्तम पथ्य से आरोग्य रहता है। दया, क्षमा, शान्ति, प्रेम और स्वार्थ-त्याग आदिक प्रत्येक मन के पथ्य हैं, इन उत्तम भावनाओं से हमारी आन्तरिक शक्तियां उन्नत होती है, शरीर आरोग्य रहता है, आयुष्य बढ़ता है और जीवन में सुख प्राप्त होता है।

शरीर के पथ्य, शुद्ध जल का पान, स्वच्छ वायु का सेवन, सात्विक भोजनों का आहार, तथा यम नियम पूर्वक जीवन के अनेक प्रकार के शारीरिक व्यवहार हैं। संसार में इस प्रकार से नियमित जीवन व्यतीत करने से अपने में सत्व गुणों की बढ़ती होती है, शरीर आरोग्य रहता है, आयुष्य बढ़ता है और अपनी मानसिक शक्तियों की वृद्धि होती है। पवित्र भोजन, शुद्ध जल और स्वच्छ वायु ही हमारे शरीर को आरोग्य रखते हैं।

[खान पान]

पवित्र भोजन, शुद्ध जल और स्वच्छ वायु से यही अभिप्राय है कि इनमें कोई बाहरी असत् (इनके स्वभाव के प्रतिकूल) पदार्थ न मिले हों, अपनी स्वाभाविक दशा में ही ये प्रत्येक पदार्थ सदा शुद्ध रहते हैं और यथार्थ में अन्न, जल और वायु ही प्राणी मात्र के जीवन के आधार हैं। स्वच्छ वायु के श्वास लेने से रुधिर शुद्ध रहता है, शरीर आरोग्य रहता है और जीवन सुखी होता है। प्रायः प्रातःकाल की वायु सदा स्वच्छ रहती है। उस समय की वायु का सेवन अति लाभदायक है। बहते हुए नदी नालों के स्रोत का निर्मल जल सर्वदा शुद्ध रहता है और शरीर की आरोग्यता के लिये अति लाभदायक होता है। पवित्र भोजन से यह अभिप्राय है कि हमारे भोजन में नित्य सात्विक अन्न होने चाहिएं, यथा—

"आयुः सत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहारा सात्विकप्रियाः॥" (क)

सात्विक भोजन वही है जिनसे हम में सत्व गुण उत्पन्न हों, हमारा शरीर आरोग्य और बलवान् रहे और हमारे आयुष्य की वृद्धि हो, जिन पदार्थों के भोजन करने में हमको सुख प्राप्त हो और चित्त में स्वतः प्रेम भाव उत्पन्न हो। जो पदार्थ सरस हों, शरीर में तरावट देने वाले हों और स्थिर हों वही हमारे सात्विक भोजन हैं। परन्तु जिन भोजनों का इससे विपरीत प्रभाव होता है वे सात्विक आहार नहीं हैं। अनेक प्रकार के कठोर तामसी भोजनों के आहार से हमारे भीतरी सूक्ष्म यंत्रों को अति परिश्रम पड़ता है और वे शीघ्र ही निर्बल हो जाते हैं। शरीर रोगी बन जाता है और आयुष्य घटता है। हमारे भोजन तो केवल शरीर की आरोग्यता और आयुष्य की वृद्धि के निमित्त होने चाहिएं, न कि विषयों की तृप्ति के लिये। विषयों के भोग की तो उल्टी रीति है। वैषयिक इन्द्रियों को उनके भोग्य पदार्थ देने से वे तृप्त नहीं होती हैं, वरन् वे और भी अधिक

(क) जीवन, अन्तःकरण का बल, देह और इन्द्रियों की शक्ति का आरोग्य सन्तोष तथा प्रीति को बढ़ाने वाले—सरस, मधुर, स्निग्ध, स्थिर, (सारवान्) तथा मन को प्रिय लगने वाले भोजन सात्विकी होते हैं।

लोलुप हो जाती हैं। क्षुधादिक शरीर के धर्म तो नियमित, स्वाभाविक और सात्विक अन्नादिकों से शान्त होते हैं। अन्न ही से मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति और बनावट भी है।

"अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते याः काश्च पृथिवींश्रिताः अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपियन्त्यन्ततः। अन्नंहि भूतानां ज्येष्टम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते॥"(क)

भोजन ही से हमारे स्थूल और सूक्ष्म शरीर के सम्पूर्ण यन्त्र बनते हैं। भोजन से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेदा, मेदे से हड्डी, हड्डी से मज्जा, मज्जा से वीर्य, और वीर्य्य-बल से बुद्धि बनती है और इसी बुद्धि की प्रेरणा से अन्तःकरण के मन आदिक प्रत्येक अङ्ग अपने अपने कार्य्यों में प्रवृत्त होते हैं। यदि हमारे भोजन शुद्ध नियमित और स्वाभाविक रहें तो हमारे शरीर के सब यन्त्र निर्दोष रहते हैं। भोजन कैसे स्थान पर होने चाहिएं और कौन कौन पदार्थ किस रीति से और किस समय खाये जाने चाहिएं। इन विषयों को को भी अपनी आरोग्यता के निमित्त जान लेना अति आवश्यक है, भोजन प्रायः प्रकाशयुक्त शुद्ध वायु से पूरित स्थान में खाये जाने उचित हैं। निर्वात तथा प्रकाशहीन स्थान में भोजन करना अत्यन्त हानिकारक है।

भोजन में सात्विक अन्न, फल, शाक सब्जी और दूध घी आदि सात्विक पदार्थ खाये जाने उचित हैं और ये भी जहां तक हो सकें

(क) अन्न रसादि परिणत होने से सम्पूर्ण स्थावर जंगम प्रजा अन्न से उत्पन्न होती है और अन्न ही से जीवित रहती है और अन्न ही प्राणियों का कारण है। अन्नमयादि पंचकोष और पृथिव्यादि पंचमहाभूतों का कारण अन्न ही होने से सम्पूर्ण प्राणी वर्ग अन्न ही में प्रलीन भी होते हैं। इस कारण सम्पूर्ण प्राणियों का देह-दाह प्रशमक औषधि स्वरूप अन्न ही है। प्राणियों से जो पदार्थ खाया जाता है वही अन्न हैं।

सरल दशा में ही खाये जाने ठीक हैं। जो वस्तुएं अपनी स्वाभाविक अर्थात् विना किसी प्रकार से परिवर्तन तथा किसी अन्य पदार्थ के मेल से अपनी असली अवस्था में स्वादिष्ट और चित्त को रुचिकारक हैं वही हमारे भोज्य पदार्थ हैं, परन्तु जो अपनी असली दशा में रुचिकारक नहीं होते हैं वे हमारे वास्तविक भोजन नहीं हैं। हमारे स्वाभाविक भोज्य पदार्थ वे हैं जिनको आरोग्य दशा में नित्य निरन्तर भोजन करने से चित्त में अरुचि उत्पन्न न हो, परन्तु जिन पदार्थों के अधिक समय तक भोजन करने से अरुचि उत्पन्न हो वे हमारे भोज्य पदार्थ नहीं हैं। ऐसे पदार्थों को अन्य पदार्थों के मेल जोल से रुचिकारक बना देने से भी वे शरीर को लाभदायक नहीं होते हैं।

Out in the grassy orchard down
in the watered mead.
Upon the hills and moorlands abound
choice meats that feed.
Meats that have sprung from seedling
meats that have grown on trees,
Meats that will give full power to live,
nor shrink from the hands that seize.
These are the things provided,
this is the food of the gods,
The golden grain on the uplands,
the fair green fruit of the pods.
Olives and dates and berries
yield of the palm and the pine,
Water to driuk from the hill-spring
and the unspoilt juice of the vine.
These are the things that g..d shall eat
when they inherit Earth.

When man has come to his again
with praise and health and mirth.(क)

ऋतु के सात्विकी फल भी शरीर की आरोग्यता के लिये अति लाभदायक हैं और ऐसे सद्यः अर्थात् तत्काल ही वृक्ष से निकाले हुए रोग-रहित फल ही उपयोगी होते हैं। अधिक समय के टूटे हुए फलों का असली रस सूख जाने से वे वैकारिक हो जाते हैं। फल जब वृक्ष पर पक कर सरस हो जांय तब ही खाने के योग्य होते हैं, अधिक पके हुए फल उतने लाभदायक नहीं होते हैं। ऋतु के शाक और अन्नादिक शरीर को उपयोगी होते हैं और ये वस्तुएं भी सद्यः और सरस ही उपयोगी होती हैं। सूखे हुए शाक और अन्न को अग्नि और जल से उतना ही संस्कारित करना उचित है जब तक उनमें अपनी स्वाभाविक कोमलता न आ जाय। उनको अधिक पका देने से उनकी उपयोगिता जाती रहती है। जिन भोजनों के अग्नि पर पकाने को अधिक समय लगता है वे भोजन शरीर में पाचन करने को भी कठिन होते हैं। हमारे भोजन जहां तक हो सकें स्थिर (Solid) भी होने चाहिएं। पतले भोजनों के पाचन करने को हमारे भीतरी यन्त्रों को कम परिश्रम पड़ता है। इसके विरुद्ध कठोर भोजनों के पाचन करने के लिये हमारे भीतरी यन्त्रों को अति परिश्रम पड़ता है, जिससे वे शीघ्र निर्बल हो जाते हैं और इनके इस प्रकार निर्बल हो जाने से उनके अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जो भोजन ज्यादे देर तक चावे जाते हैं और जिनका जिह्वा द्वारा रस मिलता रहता है वे ही पाचन के लिये सुलभ होते हैं। स्थिर पदार्थों

(क) हरे भरे इन वाटिकाओं में, जल सिंचित क्षेत्रों में, पहाड़ियों के ऊपर, और दलदलों पर उत्तमोत्तम स्वास्थ्य वर्द्धक पवित्र भोज्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जो पदार्थ भूमि में बीज बोने से उत्पन्न होते हैं अथवा वृक्षों पर फलते हैं और जो आक्रमित होने पर भयभीत नहीं होते हैं ऐसे उत्तमोत्तम पदार्थ परमैश्वर्यशाली व्यक्तियों को संसार में प्रस्तुत हैं। ऊपरी भूमि में उत्पन्न हुए सात्विकी अन्न और सद्य फल; ज़िन, छुआरे, बेरी, खजूर, पावन फल और पहाड़ी सोतों का सद्य जल, अंगूर का निर्विकार रस, ऐसे खाद्य और पेय उत्तमोत्तम पदार्थ परमैश्वर्यशाली व्यक्तियों के लिये लभ्य है। ऐसे पदार्थ मनुष्य के भोज्य हैं, जब संसार में वह आरोग्यता तथा आनन्दादि महद्भावों से अपने महत्व (मनुष्यत्व) को प्राप्त होता है।

को पतला बना कर खाना अति ही हानिकारक है। सद्यः पके हुए रुचिकारक सरस अन्न ही शरीर को आरोग्य और पुष्ट रखते हैं। सूखे तीक्ष्ण चिरचिरे और कटु भोजन सुख देने वाले नहीं होते हैं और वे ही तामसी अन्न भी कहाते हैं:—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूतिपर्य्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥(क)

हमारे भोजन जहां तक हो सकें अल्प भी होने चाहिएं। कभी स्वाद के वश में होकर अपरिमित आहार भी हो जाते हैं। परन्तु वह बड़े दुःखदायी होते हैं। असल में तो स्वाभाविक अन्नों के ही परिमित आहार होते हैं। अपने विषयों के निमित्त जो भोजन अनेक प्रकार के संस्कारों से बनाये जाते हैं वे ही अपरिमित भी खाये जाते हैं। सरल स्वाभाविक आहार ही परिमित और रुचि के अनुकूल खाये जाते हैं। आवश्यकता से अधिक तथा कम भोजन करने को ही अपरिमित आहार कहते हैं। भोजन करते समय अन्न और जल के क्रम का यथोचित विचार होना अत्यावश्यक हैं।

अन्नं भागद्वयं भुञ्जेत् तृतीयं वारिपूरयेत्।
वायुसंचारणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्॥(ख)

भोजन के समय पेट का अर्द्ध भाग अन्न से पूर्ण करना चाहिये। तृतीय भाग जल से और श्वास के निमित्त चतुर्थ भाग खाली रहना चाहिये। आहार करने में असली नियम यह है कि जब भोजन करने की आवश्यकता नहीं रहती है तो स्वभावतः चित्त में अरुचि

(क) अति कटु, अति अम्ल, अति उष्ण, अति चिरचिरा, अति रूक्ष तथा शरीर में दाह उत्पन्न करने वाले ऐसे दुःख शोक तथा रोग के विवर्द्धक भोजन राजसी हैं। अपक्व तथा अति पक्व, दुर्गन्धित, चिर काल का पका हुआ, भोजन-शेष, और अपवित्र भोजन तामसी होते हैं।

(ख) इसका भावार्थ विषयान्तर्गत है।

होने लगती है और अन्नकोश में भारीपन मालूम होने लगता है। यहीं पर हमारे भोजन का अन्त होना उचित है। शुद्ध और परिमित आहार करने के पश्चात् स्वभावतः चित्त में प्रसन्नता और शरीर में बल प्रतीत होता है। पुनः एक भोजन जब शरीर में पूर्ण रीति पर पाचन हो जाता है तो फिर स्वतः दूसरे भोजन के लिये क्षुधा प्रबल होती है और क्षुधा होने पर ही भोजन करना भी लाभदायक है। जब तक एक समय का भोजन उचित रीति पर पाचन न हो जाय तब तक दूसरा भोजन नहीं होना चाहिये। असल आरोग्य शारीरक परिश्रम करने वाले पुरुष को अपने स्वाभाविक परिमित आहार को पाचन करने के लिये जो समय लगता है उसके अतिरिक्त अपनी पाचन शक्तियों को दूसरे भोजन से प्रथम अवश्य कुछ विश्राम देना उचित है, नहीं तो इनसे अधिक काम ले लेने से पाचन शक्ति निर्बल हो जाती है। इस रीति पर यदि दिन भर में असल आरोग्य पुरुष अति स्वल्प और हल्के भोजन तीन समय भी कर ले तो ठीक है। परन्तु भोजन दो समय अर्थात् सुबह और शाम ही हों तो अत्यन्त लाभदायक है। स्मृति में कहा है:—

सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं वेदनिर्मितम्।
नान्तरं भोजनं दृष्ट्वा उपवासी तथा भवेत्॥(क)

प्रथम भोजन प्रातःकाल और दूसरा सायंकाल का है। भोजन के समय सदैव नियत किये जाने उचित हैं। प्रातःकाल में भोजन दिन के प्रथम दो यामों की संधि में कर लेना उचित है। इससे पहिले भोजन करना ठीक नहीं है। उस समय रात्रि को हमारे सोये पड़े रहने से शरीर के सारे मन बुद्धि आदि अन्तःकरण भी विश्राम करते रहते हैं और प्रातःकाल होते ही प्रकृति के साथ हमारे शरीर के यन्त्र भी विकसित होने लगते हैं। इस समय तक हमारे भीतरी प्रत्येक अङ्ग पूरे पूरे विकसित हो चुकते हैं और भोजन के लिये क्षुधा भी तीव्र होती जाती है। इस समय में जो अन्न भोजन किया जाता

(क) मनुष्यों का केवल सायंकाल और प्रातःकाल का भोजन करना वेद विहित है। इस उक्त समय के बीच में जो भोजन नहीं करता है वह भी एक प्रकार का उपवासी (व्रती) है।

है वह शरीर के लिये अत्यन्त उपयोगी है। किसी विशेष पौष्टिक पदार्थ का भोजन भी सायंकाल की अपेक्षा प्रातःकाल को ही करना ठीक है। दिन के प्रथम भाग में मध्याह्न तक सूर्य्य के तेज के समान शरीर में भी तेज बढ़ता रहता है और मध्याह्न से पहिले हमारे शरीर की प्रत्येक शक्ति प्रबल रहती है। इस समय जो कुछ भी पथ्य भोजन किया जाता है शीघ्र पाचन होकर अधिक लाभदायक होता है। इसी प्रकार सायंकाल को भी हमारे भोजन रात्रि के प्रथम दो यामों की सन्धि में हो जाने चाहिएं। इसके पश्चात् भोजन करने से बहुत हानि होती है। क्योंकि ज्यों ज्यों रात्रि अधिक होती जाती है त्यों त्यों शरीर के प्रत्येक अङ्ग प्रकृति के नियमानुसार विश्राम करने लगते हैं और फिर जो भोजन किये जाते हैं वे उचित रीति से पाचन नहीं होने पाते हैं और एवं शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। रात्रि के प्रथम याम के पश्चात् मनुष्य कदापि भोजन न करे। प्रातःकाल के भोजन की अपेक्षा हमारे सायंकाल के भोजन अधिक सरल और अल्प होने चाहिएं।

मादक पदार्थों से परहेज करना भी शरीर की आरोग्यता के लिये अति ही उपयोगी है। मादक पदार्थों के निषेध से शरीर की आरोग्यता ही नहीं, वरन् मन, बुद्धि और विवेक भी ठीक रहते हैं। मादक पदार्थों का प्रभाव शरीर को अपेक्षा मस्तिष्क पर विशेषतर होता है। यों तो प्रत्येक पदार्थ जो खाये तथा पिये जाते हैं कालान्तर में पाचन होकर रुधिर और मज्जा बन कर नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क में प्रवेश करते हैं। परन्तु प्रत्येक भोजन तथा पान की हुई वस्तु का पाचन होने की प्रथम दशा में एक प्रकार का भफका (Fermentation—वाष्प) बनता है और वह भफका नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क में प्रवेश करता है। इस कारण यदि आहार सात्विक होता है तो मस्तिष्क में वैसा ही प्रभाव होता है और यदि मादक तथा अन्य तामसी पदार्थों का भोजन तथा पान किया जाय तो बुद्धि में वैसा ही प्रभाव होता है और बुद्धि मलिन हो जाती है और अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं और हमारा सूक्ष्म शरीर रोगी बन जाता है एवं सूक्ष्म शरीर के रोगी हो जाने से स्थूल शरीर के रोग भी आ घेरते हैं, जीवन के सुख जाते रहते हैं और आयुष्य घटता है।

इस प्रकार अस्वाभाविक तथा अयोग्य खान पान से शरीर में विकार उत्पन्न होता है और वह शरीर के मुख्य मुख्य स्थानों में सञ्चय होकर शरीर के रोगों का मूल कारण बन जाता है। शरीर में ऐसे विकृत पदार्थों के सञ्चित होने का मुख्य स्थान पेट आशय (Abdomon) है। भोजन जो कुछ हम करते हैं, उसका असली सत्व शरीर की बनावट में काम आता है। शेष स्थूल निरर्थक भाग मल, मूत्र, वायु और पसीना के रूप में बन कर बाहर निकल आता है। यदि इन त्याज्य पदार्थों के बाहर निकलने में किसी प्रकार की भी बाधा हो जाय तो शरीर तत्काल ही रोगी हो जाता है। शरीर में मल, मूत्रादिक त्याज्य वस्तुओं का उचित रीति पर त्याग न होना ही शरीर की अनारोग्यता का सूचक है। भोजन के यथार्थ पाचन न होने से अथवा अयोग्य व्यवहार करने से शरीर में त्याज्य वस्तुओं का संचय होता है और वही फिर सब रोगों का एक मात्र कारण हो जाता है। शरीर में जितने भी रोग उत्पन्न होते हैं, उन सब का मूल कारण केवल शरीर में मल, मूत्र और पसीना आदि त्याज्य वस्तुओं का सञ्चय है।

"सर्वेषामेव रोगाणां निदानं मलदूषणम्"। (क)

शरीर को आरोग्य रखने का प्रथम उपाय यही है कि अपनी शारीरिक क्रियाएं सब इस ढंग पर हों, जिससे अपने भोजन का पाचन हो और शरीर में से त्याज्य पदार्थों का उचित रीति पर त्याग होता रहे। परन्तु जब शरीर में किसी प्रकार का रोग उत्पन्न हो ही जाता है तो बड़ी सावधानता की आवश्यकता है। यथार्थ में तो रोग शरीर से स्वतः सञ्चित असत् पदार्थों (Foreign matter) का निष्कासन करते हैं। जब शरीर में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न हो जाता है तो यह स्वाभाविक नियम है कि समय पाकर उसका निष्कासन बिना तदनुकूल किसी रोग के उत्पन्न हुए नहीं होता है। यथा आकाश में जब बादलों का सञ्चय हो जाता है तो कालान्तर में बिना बरसे नहीं रहता है। पृथ्वी के किसी स्थान पर जब अधिक अग्नि का सञ्चय हो जाता है तो वह बिना बाहर निकले नहीं रहता है। पर्वतों के भीतर जब अधिक जल जमा हो जाता है तो वह

(क) अर्थ विषयान्तर है।

बिना बाहर बहे नहीं रहता है। यही प्राकृतिक नियम हमारे शरीर में भी काम करता है। यों तो शरीर में जो साधारण रोग उत्पन्न होते हैं वे सब हमारे शरीर के ही हित होते हैं। उनमें केवल साव-धानता पूर्वक यम नियम पूर्वक शरीर के व्यवहारों का पालन ही पथ्य है। शरीर के रोगों के विषय में आरम्भ में ही असावधानता दिखलाना अत्यन्त हानिकारक है। उस समय क्षुधा के अनुकूल केवल भोजनों को सरल कर देना आवश्यक है। परन्तु रोगी को रोग से निवृत्त होने के पश्चात् और भी अधिक नियम पालन की आवश्यकता होती है। उस समय हमारे शरीर के निर्बल रहने से हमारी क्षुधा आदिक शरीर की विषयेन्द्रियां निर्बल हो जाने से वे लोलुप हो जाती हैं और अनेक विषय भोग की इच्छा तीव्र होती है। उस समय भोजन के विषय में अधिक ध्यान रखना उचित है। शरीर के रोगों से निर्मुक्त होने पर हमारे भोजन अति सरल और अल्प होने चाहिएं। परन्तु ऐसे पथ्य भोजन दिन भर में क्षुधा के अनुकूल यदि तीन या चार बार भी किये जांय तो एक ही बार अधिक भोजन करने से उत्तम है। मनुष्य-शरीर में रोगों का प्रवेश कर जाना कोई असाधारण बात नहीं है। ऋतुओं के परिवर्तन होने पर श्लेष्म आदि शरीर के दोष निवारण के अर्थ कितने ही सरल रोग अवश्य ही हो पड़ते हैं। क्योंकि संसार में व्यवहार वश कभी कभी हमारे शरीर के यम नियम के पालन करने में तनिक भी बाधा हो जाने से शरीर में तत्काल ही रोगों की उत्पत्ति होने में कोई सन्देह नहीं रहता है। इस कारण ऐसे ऋतुजन्य रोगों का हो जाना भी मङ्गलकारक ही है। क्योंकि इस प्रकार शरीर में से यथा समय दोषों के निष्कासन हुए बिना शरीर में उनका सञ्चय होता जाता है और समय पाकर वे भयङ्कर वेग से उत्पन्न होते हैं और फिर ऐसे रोग असाध्य होकर मृत्युदायक हो जाते हैं। ऐसे ऋतु जन्य रोगों को आरम्भ ही में औषधादिकों के प्रयोग से रोक देना उचित नहीं है। क्योंकि वे समय पाकर फिर जीर्ण रूप से उत्पन्न होते हैं और परिणाम में मृत्युदायक हो जाते हैं। ऐसे ऋतु जन्य रोग भी प्रायः (१) उत्तेजक काल के आरम्भ वसन्त में ही अधिक होते हैं।

---

(१) उत्तेजक = उत्तरायण।

(२) उपशमक काल में अधिकतर हमारी सब शक्तियां प्रकृति के समान शान्त रहती हैं। उस समय हमारी जीवनचर्य्या में तनिक भी बाधा तथा इन्द्रियों के प्रयोग में अनियम होने से रोगों का सञ्चय होने लगता है। उपशमक काल में समय के अनुसार हमारी पाचन शक्ति अत्यन्त निर्बल रहती है। उस समय हमारे शरीर के प्रत्येक व्यवहार अति स्वल्प होने चाहिएं। जहां तक हो सके उस समय भोजन भी अति स्वल्प और सरल होने उचित हैं। शरीर में रोगों का सञ्चय होने का प्रायः यही समय रहता है। जीर्ण रोगियों के रोग भी इस समय अति दुःखदायी हो जाते हैं और बहुधा ऐसे रोगियों की मृत्यु भी इसी समय में होती है।

वास्तव में शरीर की आरोग्यता किसी प्रकार के औषधि आदि बाह्य कृतृम पदार्थों के सेवन से नहीं रहती है, वरन् रात्रि, दिन, ऋतुचर्य्या तथा योग्य खान पान तथा च जीवन के अनेक यम नियमों के यथा विधि पालन करने से ही पूरी आरोग्यता रहती है।

शयन]

शरीर की शयन आदिक सब क्रियाएं भी यथोचित समय पर की जानी उचित हैं। रात्रि को यथा समय शयन करना आरोग्यता के लिये अत्यावश्यक है। रात्रि को भोजन के पश्चात् तत्काल ही शयन करना उचित नहीं है। शरीर की स्वास्थता के निमित्त रात्रि को पूर्ण निद्रा लेना अत्यन्त उपयोगी है। रात्रि को बिना यथोचित निद्रा लिये शरीर में अन्नों का पाचन नहीं होता है और शरीर रोगी हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी पूरी निद्रा लेनी चाहिये। रात्रि को मध्य के तीन प्रहर शयन करना ठीक है। रात्रि जागरण आरोग्यता के लिये अत्यन्त हानिकारक है। यदि आवश्यक कार्य वश रात्रि-जागरण करना भी पड़े तो रात्रि के पूर्वार्द्ध में मनुष्य कदापि जागृत न रहे। परार्द्ध में जागृत रहे तो उतनी हानि नहीं है। दिवा शयन भी सर्वथा हानिकारक हैं। इससे शरीर में रोगों की वृद्धि होती है और आयुष्य घटता है। दिवा शयन प्रकृति के भी विपरीत धर्म है। दिन कार्य्य करने और रात्रि विश्राम करने के ही लिये है। नियमित व्यवहार करने वाले

(२) उपशमक = दक्षिणायण।

परिश्रम शील पुरुषों को ही रात्रि को यथोचित विश्राम के आनन्द का अनुभव होता है। दिन में शयन करने वाले पुरुषों को रात्रि को सुपुप्ति का आनन्द दुष्प्राप्य है।

हमारे जीवन की जागृत, स्वप्न और सुपुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में सुपुप्ति एक परमानन्द की दशा है। विश्राम के पूर्ण सुख का अनुभव हम इसी दशा में कर सकते हैं।

"Sleep that knits up the ravelled sleave of care,
The death of each day's life, sore labour's bath,
Balm of heart mind, great nature's second course,
Chief nourisher in life's feast."—*Shakespeare.* (क)

सुपुप्ति की अवस्था में हमारे स्थूल शरीर के प्रत्येक अवयव और सूक्ष्म शरीर के मन आदिक निश्चेष्ट और विकार रहित रहते हैं। केवल बुद्धि ही उस आनन्द के अनुभव के निमित्त बीज रूप में वर्तमान रहती है। स्वप्न भी निद्रा की एक अवस्था है जिसमें हमारी जाग्रत अवस्था की वासनाएं प्रतिफलित रहती हैं और मन अनेक प्रकार के हर्ष शोकादिकों से विकारयुक्त रहता है। यह अवस्था पूर्व लिखित अवस्थाओं से निकृष्ट है और यह केवल मानसिक विकार है, जो शरीर में आलस्य आदिक तमोगुणों की प्रधानता से उत्पन्न होता है। अनुभव से यह भी सिद्ध है कि तामसिक भोजनों के प्रभाव से स्वप्न अधिक होता है, इस अवस्था में विश्राम का सुख दुष्प्राप्य है। केवल सुपुप्ति ही हमको पूर्ण सुख देने वाली होती है और यह सुख भी मानसिक और शारीरिक परिश्रम करने वाले असल आरोग्य पुरुषों को ही प्राप्त होता है। हमारी जाग्रत अवस्था वह है जिसमें हमारी मन बुद्धि विवेक से प्रेरित शरीर की ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां प्रत्येक कर्म में तत्पर रहती हैं।

(क) सुपुप्ति हमारे मन से विकीर्ण हुई मनोवृत्तियों को सावधान करती है और नित्य प्रति जीवन के व्यवहारों से उपरति करने वाली है और कठिन परिश्रम के पश्चात् स्नानवत् शरीर को आप्यायन करती है। दुःखित चित्त को शान्तिदायक प्रकृति की विश्राम देने वाली शक्तियों में से यह एक प्रबल शक्ति है।

परिश्रम]

अपनी आरोग्यता के निमित्त शारीरक परिश्रम करना भी अत्यन्त आवश्यक है। जिन लोगों को कार्य्य वश शारीरक परिश्रम करने का अवकाश नहीं मिलता है और मस्तिष्क सम्बन्धी कार्य अधिक करना पड़ता है, उन लोगों को किसी न किसी प्रकार के व्यायाम की वान डालना अत्यन्त लाभदायक है, इसके अनेक लाभ हैं। रुधिर का सञ्चार शरीर की प्रत्येक नाड़ी में उचित रीति पर होता रहता है और शरीर में आलस्य नहीं रहने पाता है। व्यायाम तथा परिश्रम करने से शरीर श्रान्त हो जाता है और पुनः विश्राम के आनन्द का भी अनुभव होता है और रात्रि को सुषुप्ति का सुख भी प्राप्त होता है। शरीर में अन्नों का पूर्ण रीति से पाचन होकर शरीर आरोग्य रहता है। आयुष्य की वृद्धि होती है और जीवन में सुख रहता है।

प्रायः देखा जाता है कि जिन लोगों को शारीरक परिश्रम अधिक करने पड़ते हैं उनके ही शरीर अधिक आरोग्य और सुखी रहते हैं और वही दीर्घजीवी भी होते हैं। शारीरक परिश्रम से हमारे शरीर के सब यन्त्र अपना पूरा पूरा यथोचित काम करते हैं और इसी रीति से वे सदैव स्वच्छ और बलिष्ठ भी रहते हैं। शरीर में अन्नों का उत्तम रीति से पाचन होता है और मल आदि त्याज्य अंशों का भी विधिवत् त्याग होता रहता है। पसीना खूब बहता है और रुधिर स्वच्छ रहता है। हमको विश्राम का सच्चा सुख भी परिश्रम करने के पश्चात् ही जान पड़ता हैं, परन्तु हमारी परिश्रम की शैली परिमित होनी चाहिये। अपरिमित परिश्रम तथा व्यायाम से शरीर रोगी हो जाता है। जब हमको परिश्रम करते करते शरीर में स्वतः थकावट ज्ञात होने लगती है, वस वहीं पर हमारे परिश्रम की समाप्ति होनी ठीक है।

शौच]

शारीरक शौच और गृह वस्त्रादिक की शुद्धता भी आरोग्यता के लिये अत्यन्त उपयोगी है। शौच आदि क्रियाओं से शरीर की शुद्धता रहती है। शौच दो प्रकार के होते हैं—एक वाह्य (शरीर, गृह, वस्त्रादिक का) और दूसरा भीतरी (मानसिक)। जल आदि से वाह्य शौच होता है और काम, क्रोध, ईर्षा और द्वेषादिक हीन भावों के त्याग से आन्तरिक शौच होता है।

शौच दोनों प्रकार के होने चाहिएं। यों तो वाहरी शौच की अपेक्षा आन्तरिक शौच मुख्य है, तथापि शरीर की आरोग्यता के निमित्त वाहरी शौच भी आवश्यक ही है। नित्यमेव प्रातःकाल जल से शरीर कीं शुद्धि होनी चाहिये। रात्रि को शयन करने से हमारी प्रत्येक त्वचा आदिक शरीर की इन्द्रियां मुर्झाई हुई रहती हैं। स्नान करने से हमारी सव इन्द्रियां जागृत हो जाती हैं, आलस्य जाता रहता है और शरीर में वल उत्पन्न होता है। नित्य स्नान से एक वहुत वड़ा लाभ यह है कि शरीर निर्मल रहता है और त्वचा के वायु तथा पसीना के छिद्र खुले रहते हैं। हम नासिका और मुंह के समान त्वचा के छिद्रों से भी सांस लेते हैं। शरीर में से पसीना निकलने का मुख्य द्वार तो लोमों के छिद्र ही हैं। शरीर की आरोग्यता के लिये इन छिद्रों को प्रति क्षण खुला रखना अत्यन्त आवश्यक है। शरीर में से मल, मूत्र और पसीना आदिक त्याज्य अंशों का यथा विधि उचित समय पर त्याग होना शारीरक शौच है। शरीर की शौचादिक क्रिया के लिये समय की अनुकूलता पर विशेष ध्यान होना चाहिये और इस हेतु समय का विभाग कर लेना उचित है।

समय विभाग]

यों तो हमारे जीवन के प्रत्येक व्यवहार के लिये समय का विभाग होना उचित है, परन्तु शारीरक व्यवहारों के लिये तो समय का विभाग कर देना अत्यन्त ही लाभदायक है। साधारणतया समय के दो विभाग हैं—अर्थात् दिन और रात। व्यवहार के लिये दिन रात के भी ८ सूक्ष्म विभाग हैं। इन विभागों को याम या प्रहर कहते हैं। दिन रात में २४ घण्टे होते हैं, तदनुसार ३ घण्टे का एक प्रहर या याम होता है। यद्यपि स्थान और समय के भेद से सूर्य्योदय सर्वत्र सर्वदा एक ही समय नहीं होता है, तथापि हम ६ वजे सुवह से ९ वजे तक दिन का प्रथम प्रहर मानते हैं और इसी नियमानुसार सन्ध्या के ६ वजे को दिन के ४ प्रहर समाप्त हो जाते हैं। रात्रि का अन्तिम याम (३ वजे रात्रि से ६ वजे प्रातःकाल) ब्राह्म मुहूर्त कहलाता है। रात्रि दिवस के आठों प्रहरों में से यह ब्राह्म मुहूर्त—शुभ कार्य्यों के करने का उचित समय है। इस समय शयन से जागना स्वाभाविक व्यवहार है।

रात्रेर्यश्चान्तिमे यामे मुहूर्तो वै तृतीयकः ।
स ब्राह्म इति विख्यातो विहितः सम्प्रबोधने ॥(क)

उस समय शय्या से उठते ही तत्काल शारीरिक शौच करना चाहिये। हमारे व्यवहार और शरीर सम्बन्धी जितने भी उत्तम कर्म हैं सब प्रातः काल ही किये जाने उचित हैं। उस समय हमारी बुद्धि विकार-रहित रहती है, शरीर में बल विद्यमान रहता है चित्त हर्षित रहता है और सब इन्द्रियां सबल और निर्दोष रहती हैं। ब्राह्म मुहूर्त से लेकर मध्याह्न तक जिस प्रकार सूर्य्य का तेज पृथ्वी पर बढ़ता जाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीव वृक्षादिक प्रत्येक पदार्थ तेजोमय और विकसित रहते हैं और मध्याह्न के उपरान्त हमारी प्रत्येक शक्तियां प्रकृति के समान निर्बल होती जाती हैं, यहां तक कि सायंकाल को सब शक्तियां लय हो जाती हैं और पशु आदिक सब प्राणी वर्ग शक्ति-हीन होकर आलस्य से निद्रा युक्त हो जाते हैं। इसी नियमानुसार सूर्य्य की बढ़ती और घटती कलाओं के अनुकूल दिन के प्रथम दो याम को उत्तेजक समय (Period of Animation) और अन्तिम दो याम को उपशमक काल (Period of Tranquilization) कहते हैं। वास्तव में तो दिन और रात ही क्रम से हमारे लिये काम और विश्राम के निमित्त उचित समय है। दिन को हमारे शरीर में काम करने की शक्ति प्रबल रहती है। और रात्रि को आलस्य अधिक बढ़ जाता है। रोगी को रोग का अधिक क्लेश रात्रि को ही ज्ञात होता है और दिन को शरीर में किञ्चित् बल रहने से रोग का वेग कम प्रतीत होता है। वर्ष को भी ऐसे ही दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है। यों तो स्थान के भेद से सब ऋतुएं सर्वत्र एक ही समय से आरम्भ नहीं होती हैं, तथापि सूर्य्य की उत्तरायण दक्षिणायन गति के क्रम से सम्वत्सर के उत्तेजक और उपशमक समय माने जाते हैं। वर्ष का उत्तेजक काल वसन्त ऋतु से आरम्भ होने लगता है और इस प्रकार ६ मास तक इस समय का पूर्ण अनुभव होता है। सम्वत्सर का प्रारम्भ भी इसी समय से माना जाता है।

(क) रात्रि के चतुर्थ प्रहर के तृतीय मुहूर्त को 'ब्राह्मसंज्ञक', पुनीत मुहूर्त कहते हैं और यह शयन से उठने के लिये अत्युत्तम कहा गया है।

उषाकाल के समान प्रकृति में वसन्त ऋतु में हम सब प्रकार से संसार में हर्ष, आनन्द और उत्तेजना का अनुभव करते हैं, वृक्षों पर नई पत्तियां निकलती हैं, पुष्प खिलते हैं, पशु पक्षी आदिक संसार के प्रत्येक जीवधारी हर्ष युक्त रहते हैं। सूर्य्य का तेज बढ़ता रहता है और एवं ग्रीष्म में दिन के मध्याह्न के समान प्रकृति में पूर्ण उत्तेजना प्रकट हो जाती है और एवं प्रकार वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, उत्तेजक काल की इन तीन ऋतुओं में प्रकृति कृषि आदिक शुभ कार्य के भी अधिक उपयोगी मानी जाती है। इन्हीं में सृष्टि फल पुष्प अन्न जल की भी बाहुल्यता रहती है। पुनः दक्षिणायन के आरम्भ में सृष्टि पर उपशमक चिन्ह देख पड़ते हैं यहां तक कि शिशिर में सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ संकुचित हो जाते हैं। वृक्ष फल-पुष्प-हीन और पत्तियों बिना नग्न हो जाते हैं और प्रकृति स्वयं रात्रि के जैसे सन्नाटे में विश्राम करती हुई जान पड़ती है। शरद, हिम और शिशिर क्रम से उपशमक ऋतुएं हैं और प्रकृति सर्व प्रकार से संकीर्ण रहती है और सम्वत्सर का अन्त इसी समय में माना जाता है।

इसी नियमानुसार मनुष्य जीवन के भी सम्वत्सर के समान उत्तेजक और उपशमक क्रम से यौवन और वृद्धत्व दो मुख्य विभाग माने गये हैं। पुनः इसको सम्वत्सर की छः ऋतुओं के समान छओं अल्प विभागों में भी विभाजित किया गया है। प्रथमावस्था में शरीर वसन्तवत् अति कोमल और प्रारम्भिक दशा में रहता है। इस समय शरीर के प्रत्येक अवयव उत्पत्ति की अवस्था में रहते हैं और १७ वर्ष की आयु पर्य्यन्त वे अपनी उन्नति को प्राप्त हो सकते हैं। शरीर की प्रारम्भिक दशा में जीवनचर्य्या अति सरल और नियमानुकूल होनी चाहिये और उस समय शरीर रक्षा का विषय अत्यन्त ही आलोचनीय है। बालक को पैदा होने के समय से माता के गर्भ के समान गर्माई से रखना अत्यन्त आवश्यक है और जहां तक हो सके यह माता के शरीर की उष्णता से तथा वस्त्रादिकों की सहायता से ही रक्खी जानी योग्य है तथा अग्नि की सहायता से बालक के गृह को भी उष्ण रखना उचित है। परन्तु स्वयं बालकों को अग्नि के सेक से गर्माई पहुंचाना अत्यन्त हानिकारक है, ऐसे अग्नि के कृत्रिम अधिक सेक देने से शरीर की उष्णता तत्काल ही अत्यन्त कम हो जती है और

जीवन विभाग]

बालकों को श्लेष्म आदिक अनेक हानिकारक रोगों का भय होता है। छोटे बालकों को नित्य निर्वात स्थान में मन्दोष्ण जल से स्नान करवाना भी अति लाभदायक है। इससे उनके शरीर में नित्य बल बढ़ता है और कांति की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त बालकों के जन्म समय से जब तक उनके मुंह में कठोर पदार्थों को चबाने के लिये दन्तावलि उत्पन्न न हो जाय, तब तक उन्हें केवल माता का ही दूध पथ्यकारी है, तथापि रोग वियोग वश माता के दूध के अभाव में योग्य कुल शीलवती आरोग्य अन्य स्त्री का दूध तथा नवप्रसूत गाय का दूध भी पथ्यकारी होता है, परन्तु किसी प्रकार के अन्य कृत्रिम पदार्थ बालकों को खिला देना अत्यन्त हानिकारक है। बालकों को दूध पिलाने वाली स्त्रियों को अपने भोजनादिक विषयों का भी ध्यान होना अत्यन्त आवश्यक है। उनको नित्य सरल सात्विक और निरामिष भोजनों का आहार करना चाहिये; उनके व्यवहार भी सदैव सात्विक ही होने उचित हैं। माताओं को अपनी भय, शोक तथा क्रोध की अवस्थाओं में बालकों को दूध नहीं पिलाना चाहिये। बालकों के लिये आरम्भ ही से दुग्ध पान आदिक प्रत्येक कार्य्य के लिये समय नियत कर लेना आवश्यक है। पश्चात् उनकी दन्तावलि के पुष्ट हो जाने पर उनको सरल सात्विक अन्न, फल, शाकादि उत्तम पदार्थों का आहार देना उचित है, जिससे उनके स्थूल और सूक्ष्म शरीर के प्रत्येक अङ्गों की उत्तोत्तर पुष्ट हों और उनके बल और वीर्य्य में भी वृद्धि हो।

इस प्रकार सुरक्षित बालक की मानसिक और शारीरिक प्रत्येक अवयवों की ३२ वर्ष की अवस्था में पूर्ण उन्नति हो जाती है और शरीर में बल, वीर्य्य, मज्जा, अस्थि आदिक भी पुष्ट हो जाते हैं। शरीर की यह अवस्था ग्रीष्म ऋतु के समान अत्यन्त उत्कट और तीव्र रहती है; इन्द्रियों की विषयासक्ति अति प्रबल रहती हैं और मनुष्य की चित्त वृत्तियां मृग तृष्णावत् विषयों में यत्र तत्र डोलती रहती हैं। इसी हेतु इस अवस्था में विशेष नियम पालन की भी आवश्यकता होती है। मनुष्य इस अवस्था में गृहस्थ का अधिकारी होकर सन्तति उत्पन्न करने के योग्य होता है। इसमें वीर्य्य-रक्षा का अधिक ध्यान होना चाहिये। वीर्य्य क्षति केवल सन्तति के ही

अर्थ होनी उचित है और इस निमित्त भी समय को नियत किया जाना स्वाभाविक नियम है।

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा ॥(क)

स्त्रियां जब रजोवती होती हैं उसके चतुर्थ दिवस से सोलह दिवस पर्य्यन्त ऋतुकाल होता है। इस समय नियमित रीति पूर्वक सन्तति के अर्थ स्त्री-सेवन करना विधि विहित नियम है। इस नियम को दृढ़ता पूर्वक आचरण करता हुआ वीर युवा ही जन्म पर्य्यन्त शरीर के पूर्ण सुख का भागी होता है। इस हेतु पुरुष केवल ऋतुकाल में ही निज स्त्री का सेवन करे, पर-स्त्री पर कदापि मन को न चलावे। एवं ५० वर्ष की अवस्था पर्य्यन्त जीवन वर्षा ऋतु के समान हरा भरा फूला फला व्यवहारिक सर्व सम्पत्तियों से परिपूर्ण और शारीरिक उन्नति के शिखर पर स्थित रहता है। इस अवस्था में मनुष्य अनेक प्रकार के कर्त्तव्यों के बोझ से लदा हुआ उनको सफलता पूर्वक निबाह देने से अपने को कृत-कार्य मानता है। तत्पश्चात् शरीर की ६७ वर्ष की अवस्था पर्य्यन्त मनुष्य का शरद ऋतु के समान आनुभविक जीवन होता है और मनुष्य उस जीवन काल में अपने शारीरिक बल, पौरुष से उपार्जित सफलता के सुखों का अनुभव करता है। परन्तु फिर शारीरिक शक्ति की उन्नति रुक जाती है और मनुष्य की भविष्य के लिये संसार के सुखों से उपरति होने लगती है और मनोविकारों की भी समता हो जाती है। इसके उपरान्त ८४ वर्ष की अवस्था पर्य्यन्त शरीर हेमन्त ऋतु के समान शिथिल, निर्बल और संकुचित हो जाता है। इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है और मनोविकार बाह्य वृत्तियों से अवरुद्ध होकर स्वतः आन्तरिक वृत्तियों में संलग्न हो जाती है। अन्त को मनुष्य की शिशिर ऋतु के समान अन्तिम अवस्था होती है और शरीर के जीर्ण जर्जरी भूत हो जाने के कारण शारीरिक और मानसिक उभय शक्तियां अत्यन्त शिथिल, निश्चेष्ट और विकार रहित हो जाती हैं। केवल सच्चिदानन्द स्वरूप अन्तस्तेज ही

(क) पुरुष अपनी स्त्री से प्रेम रखता हुआ ऋतुकाल में अभिगमन (संगति) करे।

शाक्षी मात्र मधुरतया निरन्तर प्रकाशमान रहता है। इस प्रकार मनुष्य की १०० वर्ष की आयु श्रुति द्वारा परिमित की गई है। यथा—

"शतायुर्वै पुरुषः" (क)

और अन्त को क्रमानुसार शरीर के जीर्ण हो जाने पर मनुष्य की मानसिक और शारीरिक उभय शक्तियां भी क्रम से रूपान्तरित हो जाती हैं और शरीर क्षय हो जाता है। वास्तव में प्रकृति का नियम भी यही है कि सृष्टि में सब ऋतुओं का समय पाकर रूपान्तर और परिवर्तन हो जाता है और प्रत्येक अपने वृहद् रूप में लय हो जाता है। पानी से बुलबुला उठ कर किञ्चित् काल के अनन्तर स्वतः लय हो जाता है, वृक्षों पर पत्र व पुष्प जीर्ण होकर मुर्झा जाते हैं और पक फल स्वतः पृथ्वी पर टूट पड़ता है। इन तीनों अवस्थाओं में प्रत्येक पदार्थ का रूपान्तर मात्र है। वास्तव में नाश किसी का भी नहीं है। परन्तु खेद केवल यही है कि पानी से बुलबुला उठने ही न पावे, पुष्प वृक्ष पर कली की हो अवस्था में मुर्झा जाय और फल वृक्ष से कच्चा ही टूट पड़े। मनुष्य शरीर के विषय में भी यही नियम आलोचनीय है। स्वाभाविक क्रम जीवन का पूर्ण १०० वर्ष की आयु भोगने का है, परन्तु यदि शरीर किसी अपव्यवहार वश अपनी प्रारम्भिक दशा में ही भ्रष्ट हो जाय तो अवश्य ही खेद का विषय है, यह जीवन क्रम भी केवल समय के विचार से ही आलोचनीय है। संसार में क्रियावान् पुरुष अपनी व्यवहारिक दशा में समय की विशेष आकांक्षा नहीं करते हैं, वरन् वे कर्मों की ही प्रधानता से जीवन के महत्व को मानते हैं और वास्तव में जीवन का महत्व भी कर्मों की ही प्रधानता पर निर्भर है।

We live in deads, not years;
in thoughts not breaths.
In fealings, not in
figures on a dial.
We should count time by
heart-throbs. He most lives,

(क) मनुष्यों की शत सम्वत्सर (वर्ष) आयु निश्चित है।

Who thinks most, feels
the noblest, acts the best.

—*P. J. Bailey Festus.* (क)

स जीवति गुणा यस्य धर्मोयस्य स जीवति।
गुणधर्मविहीनस्य जन्तोर्जन्म निरर्थकम् ॥
जीवनं पंचरात्रेण चित्तं ज्ञानेन निर्मलम्।
किं फलं वर्षलक्षं च यदि ज्ञानविवर्जितम् ॥(ख)

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॐ ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देव हितं यदायुः ॥ ॐ शान्तिः ३ ॥

इति द्वितीय खण्डः समाप्तिमगात् ॥

(क) हमारे जीवन की प्रधानता महान् कर्मों पर निर्भर है न कि अधिक वर्ष पर्यन्त जीवित रहने पर—उच्च विचारों पर न कि अधिक काल तक जीवित रहने पर, उच्च भावनाओं पर नकि वर्षों की गणना पर। हमको जीवन का वास्तविक महत्व चित्त की उदारता से मानना चाहिये। वही पुरुष दीर्घजीवी है जिसके उच्च विचार सरल भाव और उदार कर्म होते हैं।

(ख) जो पुरुष गुणवान् और धार्मिक है यथार्थ में वही जीवित है और जो गुण धर्म से रहित है उसका जीवन निरर्थक है। चित्त के ज्ञान से निर्मल होने पर पंच रात्रि का भी जीवन श्रेष्ठ है। यदि ज्ञान ही से शून्य अन्तःकरण है तो लक्ष वर्ष पर्यन्त भी जीवित रहने से क्या फल है।

तृतीय खण्ड

लौकिक व्यवहार

ॐ आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्च्चसीजायता मारा़ष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योतिव्याधी महा-रथो जायतान्दोग्ध्रीधेनुर्व्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्य्योषाजिष्णूरथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरोजायतान्निकामे निका-मेनः पर्जन्योवर्षतु फलवत्योनऽओषधयः पच्च्य-न्तांऽयोगक्षेमोनः कल्पताम् ॥ ॐ शान्तिः ३ ॥

[हमारे व्यवहार]

हम यह मानते चले आये हैं कि सांसारिक व्यवहार भी हमारे मन को निर्मल रखने के लिये और हमारे बाहरी आनन्द को बढ़ाने में बहुत सहायता पहुंचाते हैं, इस हेतु जीवन में हमारा यह भी मुख्य कर्तव्य है कि अपने हर प्रकार के सांसारिक व्यवहारों को जान लें और उनको अपने आनन्द की सामग्री मानें। संसार के व्यवहारों से आप आनन्द लेना और उनको दूसरों के लिये भी आनन्ददायक बनाना महान् पुरुषार्थ है।

संसार में हमारे दो प्रकार के व्यवहार हैं (१) आन्तरिक और (२) वाह्य। हमारे आन्तरिक व्यवहार इस प्रकार हैं कि हमारा संसार में केवल मानसिक सम्बन्ध रहे और हम इससे आनन्द, स्वात्मानुभूति, शान्ति, तृप्ति, हर्ष आदि का अनुभव करते रहें। वाह्य व्यवहार वे हैं, जैसे लेन देन, खान पान आदि। यों तो सूक्ष्म विचार से इन दोनों का परस्पर अति घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है, तथापि ज्ञानी का संसार से आन्तरिक सम्बन्ध होता है और संसारी पुरुष का वाह्य। ज्ञानी संसार में रह कर सच्चा आनन्द लेता है और विषयी पुरुष शारीरिक, वैषयिक सुख। परन्तु असली विचार तो इस प्रकार है कि ज्ञानी पुरुष के जिसके विवेक दृढ़ हो रहे हैं वाहरी व्यवहार ही सच्चे आनन्द के बढ़ाने वाले होते हैं, अर्थात् मनुष्य के वाह्य व्यवहार भी आन्तरिक सुख को बढ़ाने के मुख्य कारण हैं; वास्तव में तो हमारे परम आनन्द को देने वाले हमारे आन्तरिक व्यवहार ही हैं। तथापि प्रत्येक मनुष्य को सब से पहिले अपने वाह्य अर्थात् सांसारिक व्यवहारों को जान लेना और उनको उचित बनाना भी परम कर्तव्य है; क्योंकि हम अनुभव से देखते हैं कि वालक के संसार में जिस सीमा तक वाह्य व्यवहार बढ़ते जाते हैं उसी सीमा तक उसकी आन्तरिक शक्तियां भी बनती और बढ़ती जाती हैं और वैसे ही उसके मन, बुद्धि, चित्त और विवेक भी पुष्ट होते जाते हैं। हमारे जैसे वाह्य व्यवहार होते हैं, वैसे ही हमारे मन इत्यादि आन्तरिक शक्तियां भी होती हैं। हमारे वाह्य व्यवहार भी दो प्रकार के हैं, (१) अचेतन वस्तुओं से और (२) चैतन्य प्राणियों से। विचारना चाहिये कि अचेतन पदार्थ हमको किस प्रकार आनन्द देते हैं ? और किस प्रकार ये हमारी आन्तरिक शक्तियों को बढ़ने में सहायक होते हैं ?—सुन्दर पर्वतों की श्रेणी, हरे भरे, फूले, फले, वाग वगीचे, निर्मल जल से भरे हुए नदी, नाले, झील आदि प्रकृति की अनेक सुन्दर सुहावनी रचनाओं को देख कर ज्ञानवान् मन ही मन में प्रसन्न होता है; सृष्टि के ऐसे विचित्र चरित्रों को देख कर उसका मन निर्मल होता है; चित्त हर्षित होता है, बुद्धि दृढ़ होती है और विवेक परिपक्व होते हैं। प्रकृति के इन चरित्रों पर विचार करने से ज्ञानवानों को ईश्वर साक्षात्कार प्रतीत होता है;

उनके ज्ञान-चक्षु तीव्र होते हैं और संसार में प्रत्येक वस्तु उनके लिये आनन्दमय प्रतीत होती है।

हमारा यह भी निश्चय है कि अपने आनन्द को बढ़ाने के लिये प्राणी मात्र के साथ अपना स्वच्छ और पवित्र व्यवहार रखना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक जीव के साथ अपने मन, कर्म्म वाणी से उसी प्रकार व्यवहार होने चाहिएं, जैसे हम उनसे अपने साथ कराना चाहते हैं। ऐसा व्यवहार रखने वालों के चित्त में उत्तरोत्तर प्रेम की वृद्धि होती है और संसार में प्रत्येक प्राणी उनको प्रेम करता है। जो पुरुष तन, मन, धन से प्रत्येक जीव की सहायता करता है उसकी सहायता करने को प्राणी मात्र हर घड़ी उद्यत रहता है। इस प्रकार संसार में हमारा प्रत्येक प्राणी के साथ परस्पर व्यवहारों का परिवर्तन होता रहता है। यह परस्पर व्यवहार केवल प्राणी मात्र में ही नहीं होता रहता है, वरन् संसार चक्र इस ही न्याय पर चल रहा है। सृष्टि का सारा कारोबार प्रकृति के इसी दृढ़ नियम पर चल रहा है। प्रकृति की एक मात्र शक्ति सृष्टि की सारी गाड़ियों को खींच रही है। जो शक्ति एक प्राणी के चित्त में काम करती रहती है वही शक्ति सब प्राणियों में वर्तमान रहती है और वही शक्ति सारी सृष्टि पर काम करती है और जो शक्ति अनादि समय से काम करती आई है वही शक्ति अनन्त समय तक काम करती जायगी। जो शक्ति किसी कार्य्य की भावना में वर्तमान है वही उसके अभाव में भी वर्तमान रहती है। वास्तविक विचार तो यह है कि प्रकृति में न तो किसी पदार्थ का अभाव है और न भाव है, केवल व्यवहार में हमको उसका भाव तथा अभाव प्रतीत होता है। एक कार्य्य जिसकी हमको संसार में इस समय भावना मात्र भी नहीं है, वह प्रकृति में अति सूक्ष्म कारण रूप से व्याप्त है। ऐसे ही जिस कार्य्य को हम इस समय व्यवहार में नाश हुआ मानते हैं उसका यथार्थ में नाश नहीं है, केवल उसका रूपान्तर होकर वह फिर अपनी उसी प्रथम अवस्था कारण रूप में व्याप्त हो जाता है। इन कारणों से संसार हमको एक अनोखा यंत्र प्रतीत होता है जिसमें हमको सब ओर से अपने ही कर्मों का प्रतिबिम्ब अपनी वाणी की प्रतिध्वनि और अपने ही मन की कल्पनाएं बार बार अनुभव और व्यवहार में आती रहती हैं। सृष्टि पर कभी इनका नाश नहीं होता है। हमारे

कर्मादिकों का कारण रूप बीज बन कर सृष्टि में व्याप्त हो जाता है और कालान्तर में विना प्रकट हुए नहीं रहते हैं। इस प्रकार मन, कर्म और वाणी आदिक का व्यवहार प्राणी मात्र में भी होता ही रहता है। यदि हम किसी प्राणी को दुःख पहुंचाते हैं तो वह भी हमको दुःख पहुंचाने को उद्यत रहता है और यदि हम किसी की हिंसा करने को प्रस्तुत होते हैं तो अन्य प्राणी भी हमारी हिंसा करने को उद्यत होते हैं। प्राणी मात्र के साथ व्यवहार में हिंसा भी परम दुःख और द्वेष का कारण है और प्राणियों के आनन्द का बाधक है। साधारणतः हिंसा शब्द का प्रयोग केवल प्राणों के वियोग में ही किया जाता है, परन्तु वास्तव में किसी प्राणी के अर्थ तथा आनन्द में विघ्न करना ही हिंसा है।

अहिंसा]

मनुष्य तो यथार्थ में विवेक युक्त होने के कारण स्वभावतः अहिंसक प्राणी है, इसका वास्तविक धर्म अहिंसा ही है। केवल व्यवहार के निमित्त इस विषय में विशेष विचार यों है कि किसी हीनस्वार्थ वश यदि हमारे मन कर्म और वाणी से किसी अन्य प्राणी को दुःख मिले तो हिंसा है, परन्तु यदि किसी प्राणी से उसकी अधिक सेवा करने पर अपने कार्य्यों में कुछ नियमित शारीरिक सहायता ली भी जाय तो कोई हानि नहीं है। सरल सच्चे न्याय से किसी उत्तम कार्य वश तथा प्राणी के ही लाभार्थ किसी प्रकार से तनिक कष्ट भी पहुंचाया जावे तो हिंसा नहीं है। किसी प्राणी के साथ नीति वश शुद्ध भाव से व्यवहार से संकोच करने से अपने चित्त की निर्बलता प्रकट होती है, तथा किसी नीच स्वार्थ वश प्राणियों से अयोग्य व्यवहार करना घोर अपराध है।

"Pity is weakness and cruelty is crime." (क)

इस न्याय के अनुसार प्राणियों के साथ शुद्ध और निष्कपट भाव से व्यवहार रखने वाला मनुष्य ही सच्चा अहिंसक है। मनुष्य तो प्राणी वर्ग में सर्वोत्तम गुण युक्त होने के कारण सृष्टि में उच्च पद का अधिकारी है। जिस प्रकार राजा निःस्वार्थ और निष्पक्ष भाव

(क) अर्थ भावान्तरगत है।

से अपनी प्रजा की रक्षा करने को तत्पर रहता है, एवं मनुष्य मात्र का धर्म है कि प्रत्येक प्राणी मात्र के साथ अपना शुद्ध व्यवहार रक्खे। इस प्रकार शुद्ध व्यवहार रखते हुए क्या सम्भव नहीं है कि प्रत्येक प्राणी हम पर प्रेम करे और हमारे आनन्द को बढ़ाने में सहायक होवे? एक मात्र अहिंसा धर्म को पूर्ण रूप से पालन करने पर क्या सम्भव नहीं है कि जङ्गल के मृग आकर हमारे पैरों को अपनी जिह्वा से चाटने लगे, पक्षी आकर हमारी गोद में निर्भय हो खेलने लगें और वन के हिंसक जीव भी हमको प्यार करें? अहिंसा धर्म के पालन का फल तो तब है जब हमारे चित्त से नीच स्वार्थ हट जाय और हमारे मन में शुद्ध भाव से उदार संकल्प स्वयं उठने लगें।

सर्वे भवंतु सुखिनः सर्वे सन्तु निरापदः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाजनः॥(क)

वाक्-संयम]

हम व्यवहार में तीन प्रकार (मन, कर्म और वाणी) से हिंसा करते हैं। मन से किसी प्राणी के लिये अनुचित संकल्प करना, अपने कर्म से किसी प्राणी को दुःख पहुंचाना तथा अपने मुख से किसी को दुःखजनक अप्रिय कटु वचन बोलना हिंसा है। कटु वचन का घाव प्राणी मात्र के लिये शस्त्र के घाव से अधिक दुःखदायी होता है, प्राणियों के साथ व्यवहार करने में अपनी वाणी का संयम करना अति मङ्गलकारक है। क्योंकि वाक्संयम भी अहिंसा धर्म का एक मुख्य अङ्ग है। संसार में प्रत्येक जीव से हमारे वाक्य-व्यवहार सत्य, मधुर, प्रिय और शान्त होने चाहिएं।

"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्"—भ० गी०(ख)

हमारी वाणी के इस प्रकार संयम युक्त हो जाने से क्या सम्भव नहीं है कि हमारे मुख से प्रति क्षण सत्य और फल-युक्त वचन निकले और हमारी वाणी के श्रवण मात्र से श्रोताओं के मन हर्ष-युक्त हो

(क) सम्पूर्ण प्राणी मात्र सुखी और आपत्ति रहित हों और सब को कल्याण प्राप्त हो। किसी को किसी प्रकार का भी दुःख न हो।

(ख) सरल, यथार्थ, प्रिय और उपकारक वचन बोलना ही वाक-संयम है।

जांय ? मनुष्य मात्र के साथ वाक्य व्यवहार करने के निमित्त हमको देश, काल प्रयोजन अधिकारी आदिक का विशेष ध्यान होना चाहिये ।

"If you your lips would keep fron slips.
Five things observe with care,
To whom you speak, of whom you speak
And how and when and where ?" (क)

क्योंकि विना इस प्रकार उचित विचार होने से प्रायः हमारे वचनों का अनर्थ प्रयोग भी हो पड़ता है और श्रोताओं के चित्त में भय और शंका आदिक हीन भाव उत्पन्न हो जाते हैं ।

हमारे मन कर्म और वाणी से किसी प्राणी को किसी प्रकार का भय और शंका न हो, यही अहिंसा का मुख्य रूप है और इसी को अभय दान भी कहते है । हमारे प्राणी मात्र से सब प्रकार के व्यवहारों में अभय दान भी परम धर्म है । यों तो किसी को अपनी वस्तु उठा कर दे देना ही दान है । यह अर्थ दान कहलाता है और देश और समाज में विद्या प्रचार द्वारा तथा सदुपदेश द्वारा सद् विचारों का प्रचार ब्रह्मदान कहलाता है । इस प्रकार दान की तीन संज्ञाएं मानी जाती हैं और हमारे संस्कारानुकूल सत्व रज और तम इन तीन गुणों के विचार से दान भी सात्विकी राजसी और तामसी तीन प्रकार के हैं । पहिले दो प्रकार के अभयदान और ब्रह्मदान तो केवल हमारी सात्विकी वृत्तियों की ही प्रेरणा से होते हैं और इनकी केवल सात्विकी संज्ञा है, परन्तु अर्थ दान के विषय में विशेष विचार की आवश्यकता होती है । यह हमारे चित्त की सात्विक राजसिक और तामसिक तीनों प्रकार की वृत्तियों से होते हैं और वैसे ही उनके फल भी अनुभव में आते हैं ।

दान]

(ख) यदि तुम अपने वचनों को अनर्थक न होने देना चाहो तो पांच बातों का ध्यान रक्खो कि तुम किससे बोल रहे हो, किसके विषय में बोल रहे हो, किस प्रयोजन से बोल रहे हो और किस समय और किस स्थान में बोल रहे हो ।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्चदीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।(क)

चित्त की शुद्ध भावना से निस्पृह होकर जो दान होता है उसको सात्विक दान कहते हैं, यह सर्वोत्तम दान है और जिस दान के बदले में हम उसके फल की स्पृहा रखते हैं, उसको राजसिक दान कहते हैं, परन्तु चित्त की बुरी भावना से जो दान होता है उसको तामसिक दान कहते हैं। सात्विक दान ही सर्वोत्तम दान है और यही हमारे परमानन्द को बढ़ाने वाला भी होता है। हमारे ये दो प्रकार के अर्थदान और ब्रह्मदान तो केवल मनुष्य मात्र के ही व्यवहार में आते हैं, परन्तु अभय दान तो सब प्राणी मात्र के व्यवहार में आते हैं। यही एक मात्र दान है जिसके अधिकारी प्राणी मात्र हो सकते हैं और यही दान स्वल्प-साध्य भी है। इस प्रकार संसार में हमारे चैतन्य पदार्थ से अनेक व्यवहार हैं और यही हमारे वास्तविक धर्म भी हैं और हमारे जीवन में आनन्द देने वाली सम्पत्ति भी यही व्यवहार हैं।

यथार्थ में सम्पत्ति उसी पदार्थ को कहते हैं जिसके बदले में दूसरा पदार्थ न मिलता हो और जो स्वयं अपने ही स्वरूप में हमको वास्तविक लाभ और आनन्द देने वाले हों। यद्यपि दुनिया में लोग रुपये पैसे को अपनी सम्पत्ति (अर्थ) मानते हैं, परन्तु भूल है। रुपया पैसा तो स्वयं विषय-भोग

सम्पत्ति]

(क) स्वार्थ रहित सत्पात्र को देश, काल, के विचार पूर्वक जो दान दिया जाता है वह सात्विकी दान कहा गया है। अत्यन्त स्वार्थ से प्रेरित होकर अपने स्वार्थ सिद्धि के लिये फल को निर्धारित करके जो दान दिया जाता है वह राजस कहा जाता है। देश, काल, तथा पात्रता का कुछ भी विचार न करके असत्कार तथा अपमान से जो दान दिया जाता है वह तामसी कहा गया है।

तथा आनन्द की वस्तु नहीं है केवल व्यवहारिक अवस्था में कुछ सांसारिक सुखों का (means) कारण तो हो भी सकता है। संसार में मनुष्य को धन की अपने कुछ सांसारिक व्यवहारों को निवाहने के लिये आवश्यकता होती है परन्तु ऐसी आवश्यकताएं भी व्यावहारिक लोगों में ही होती हैं, जिन्होंने अपने सांसारिक प्रपञ्चों को बढ़ाया है। स्वाभाविक आवश्यकताओं को दूर करने के लिये तो किसी प्रकार के निमित्त की आवश्यकता नहीं होती है, वे तो आप ही आप दूर होती रहती हैं।

संसार में अपनी व्यावहारिक आवश्यकताओं को अपनी पहुंच से अधिक बढ़ाने वाले पुरुष अनेक दुःख पाते हैं; अपने विस्तर से बाहर पैर फैला कर सोने वालों को कभी चेन की नींद नहीं आती है; जिन लोगों ने संसार में अपनी आवश्यकताओं को अपने व्यवसाय से अधिक बढ़ाया है उनको व्यवहार में कभी सुख प्राप्त नहीं होता है—इस नियम पर निश्चय करने वालों को किसी प्रकार का भी दुःख नहीं होता है। वास्तव में तो हमारी व्यावहारिक इच्छाओं के अभाव तथा नाश को ही सुख कहते हैं। किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा का चित्त में भाव न उत्पन्न होना अथवा किसी मनोवाञ्छित वस्तु को प्राप्त करने से जब इच्छा का नाश हो जाता है तब ही हमको व्यवहार में सुख का अनुभव होता है और इस नियमानुसार संसार में राजा और रंक के सुख की समानता मानी जा सकती है। वास्तव में तो राजा की अपेक्षा रंक की इच्छाएं स्वल्प रहती हैं और वह अपनी उस स्वल्प इच्छा के ही उपलब्धि से अधिक सुखी रहता है। यथार्थ में हमारे व्यावहारिक वैषयिक सुख स्वभावतः अत्यन्त सरल और सुलभ ही होने चाहिएं। सांसारिक विषय तो स्वयं आनन्द की वस्तु नहीं हैं, बल्कि इनका सुखदायक अथवा दुःखदायक होना हमारे शारीरिक और मानसिक व्यवहार के अनुकूल और प्रतिकूल होने पर निर्भर है। यदि कोई विषय हमको यथार्थ में अनुकूल होता है, उसको सुखदायक मानते हैं और यदि प्रतिकूल होता है तो उसको दुःखदायक मानते हैं।

"Your pleasures must be within your means. because their enjoyment lies more in the condition of

your mind and capacity to enjoy rather than in the object themselves. In short, your pleasure must be harmless, and refreshing." (क)

सच्चा ज्ञानी वही है जो संसार के दुःखों से भी आनन्द उठोता है और अपने सुख दुःख में समान भाव रखता है। जो वीर अपनी दैवी आपत्तियों और अपने व्यावहारिक क्लेशों को अपनी असली परीक्षा मानता है, वही सच्चा वीर है और उसी ने आनन्द का मर्म भी पाया है।

"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषुविगतस्पृहा।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥"

—भ० गीता।(ख)

हर घड़ी हर दशा में प्रसन्न रहने वाले महात्मा ही संसार में सुखी रहते हैं और आनन्द पूर्वक अपना लक्ष्य साधन करते हैं और वही संसार को वास्तविक लाभ भी पहुंचा सकते हैं। संसार में हमारे असली अर्थ रुपये पैसे से अन्य और ही है। अर्थ उसे कहते हैं जो हमारे जीवन के लिये अति आवश्यक हो, जिसके बिना संसार में हमारे जीवन में किसी प्रकार का भी आनन्द प्राप्त न हो सके। यथार्थतः तो हमारा वास्तविक धन धर्म है। धर्म ही हमारे जीवन को आनन्दित करता है। हमारे जीवन का असली धन (पूंजी) तो सत्य, प्रेम, शान्ति आदिक अनेक शुभ गुण हैं। धन का पर्य्याय वाचक अंग्रेजी भाषा में (Property) प्रोपर्टि है और इस शब्द को गुण आदिक अर्थ वाचक में भी प्रयोग करते हैं, यथा अग्नि का गुण (Property of fire) दग्ध करने का है। जल का गुण (Pro-

(क) तुम्हारे विषय भोग केवल तुम्हारे ही आय (सामर्थ्य) के अन्तर्गत होने चाहिएं। क्योंकि उनका अनुभव अधिकांश तुम्हारे मन की व्यवस्था तथा पात्रता पर निर्भर है न कि भोग्य सामग्री पर। सारांश यह है कि तुम्हारे विषय भोग पापरहित और आनन्दप्रद होने चाहिएं।

(ख) ज्वरादि आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, त्रिविधि दुःखों में निश्चल मन वाला और पुत्र कलत्रादि के सुखों में अनासक्त, प्रीति, भय और क्रोध से रहित निश्चल बुद्धिमान् पुरुष ज्ञानी कहलाता है।

perty of water) शीतलता है इत्यादि इत्यादि अनेक प्रयोग हैं। तात्पर्य्य यह है कि हमारे असली धन तो हमारे स्वाभाविक गुण ही हैं। तथापि हमारे इन गुण आदिक धन के सहायक हमारे व्यवहार में और भी धन हैं जो हमारे असली गुणों को उन्नति पहुंचाते हैं और हमारे हर प्रकार के आनन्दों के बढ़ाने में समर्थ होते हैं।

"धनमेव तृतयं विद्या भूमि पुरो धर्मः"(क)

हमारे व्यवहार में यथार्थ धन वही हैं जिनसे हमारे उत्तम अर्थ की सिद्धि हो और जिनसे हमारे पञ्चकोषादिक शरीर के अति सूक्ष्म और अन्य स्थूल अङ्ग प्रत्येक की परस्पर रक्षा हो और आयुष्य बढ़े।

मनुष्य के वास्तविक धन (अर्थ) विद्या भूमि और सब से उत्तम धन धर्म है। इन्हीं से हमारे कोशादिकों की परस्पर रक्षा होती है और हमारे आयुष्य और हमारे आनन्द की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।

रुपये पैसे से अन्य हम भूमि को भी अपनी सम्पत्ति मानते हैं, क्योंकि हमारी शरीर-रक्षा के हित अन्नादिकों की उत्पत्ति केवल भूमि ही से होती है और एवं मनुष्य की सर्व प्रकार की सम्पत्तियों में भूमि की ही उत्कृष्टता सर्वथा मान्य है। भूमि को अधिक उपयोगी बनाने के लिये कृषि को उन्नति पहुंचाना तथा तदुपयुक्त प्रत्येक वस्तु के प्रबन्ध के हित उपाययुक्त रहना मङ्गलकारक है। यों तो संसार में जन-समुदाय के बढ़ जाने से तथा च दिन प्रति दिन नई नई सभ्यता की उन्नति हो जाने से मनुष्य की आवश्यकताएं अधिक बढ़ती जाती हैं और उन आवश्यकताओं को पूरी करने के लिये शिल्प, वाणिज्यादिक व्यवहारों से नाना प्रकार उपाययुक्त भी रहते हैं, परन्तु इन प्रत्येक आवश्यकताओं का निर्वाह केवल भूमि की ही उपजाऊ शक्ति पर निर्भर है। भूमि से उत्तम अन्न, फल, कपास आदिक उपयोगी पदार्थों के उगने को उपजाऊ शक्ति कहते हैं। यह शक्ति भूमि में यथासमय खाद और जल प्राप्त होने से बढ़ती है। प्रत्येक वृक्ष तथा पौधे को पशु और मनुष्य के समान खाने, पीने तथा सांस लेने के लिये खाद, जल और वायु की आवश्यकता होती

(क) धन तीन हैं—विद्या धन, भूमि धन और धर्म धन।

है। गाय, बैल आदिक पशु भी कृषि, के उपकारार्थ माने जाते हैं और एवं ये भी हमारे सम्पत्ति के ही अङ्ग माने जाते हैं। कृषि की सहायता से अन्य गायों से दूध, घी आदि उत्तमोत्तम पदार्थों की भी लब्धि होती है जो हमारे शरीर के हित अति उपयोगी पदार्थ हैं। इस निमित्त इन उपयोगी पशुओं की सेवा तथा रक्षा करना तथा च इनको अपनी संपत्ति का अङ्ग मानना मनुष्य मात्र को कल्याणकारक है।

असल में तो व्यवहार में हमारी वास्तविक सम्पत्ति भूमि, घर, वस्त्र आदिक उपयोगी पदार्थ गाय, बैल आदिक अन्य उपयोगी पशु लोहा तांबा आदि उपयोगी धातु एवं प्रकार अन्य अन्य कतिपय उपयोगी पदार्थ ही हैं। तथापि यदि किसी किसी पक्ष में संसार में व्यवहार के लिये रुपया पैसा भी अपना अर्थ माना जाय तो माना भी जा सकता है, परन्तु इसमें विशेष विचार यों है कि रुपया पैसा हमारे कृत्रिम अर्थ होने के कारण इसमें कितने ही प्रकार से परि-श्रम शील और नियमित रहना भी आवश्यक है। व्यवहार में हमारे परिश्रम दो प्रकार के होते हैं-एक उत्पादक और दूसरा अनुत्पादक, जिस परिश्रम को करने से हमारी सम्पत्ति की तथा हमारी मान-सिक और शारीरिक उन्नति हो उसको उत्पादक परिश्रम कहते हैं और जिस परिश्रम को करने से किसी प्रकार का भी शारीरिक और मानसिक लाभ न हो और न जिससे हमारी सम्पत्ति की उन्नति हो, उसको अनुत्पादक परिश्रम कहते हैं।

यों तो संसार में अपने प्रत्येक अर्थ साधन के लिये परिश्रमशील और नियमयुक्त रहना आवश्यक है परन्तु अपने धनादिक व्यावहा-रिक अर्थ के निमित्त विशेष ही विचार कर्तव्य हैं। व्यवहार में हमारे धन उपार्जन की वृत्ति सर्वदा धार्मिक और स्वाभाविक नियमों के अनुकूल होनी चाहिये। संसार में हमारी आर्थिक आजीविका सदैव धर्मानुकूल सरल शुद्ध और सुखदायी होनी उचित है। उचित रीति से अपने ही पुरुषार्थ और धर्म से उपार्जित धन हमारे पास टिकता है और हमको सुख देता है।

संसार में हमारा आय व्यय, नित्य व्यवस्था युक्त होना ठीक है। अव्यवस्थित आय-व्यय से अपनी धार्मिक सम्पत्ति नहीं रह सकती है

और न हमारी आर्थिक दशा ही ठीक हो सकती है। प्रत्येक को अपने आय-व्यय के विषय में नित्य विचारयुक्त रहना उचित है।

"यः काकिनीमप्यपथप्रपन्नां
समुद्धरे न्निष्कसहस्रतुल्याम्।
कालेषु कोटिस्वपिमुक्तहस्त
स्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः॥ (क)

अपने व्यय को विचार पूर्वक उचित रीति पर न रखने वाले पुरुष संसार में अनेक दुःख पाते हैं। ऐसे पुरुष संसार में कुछ भी भलाई नहीं कर सकते हैं और अनेक पाप कर्म करते हैं। जिस प्रकार हमारा परिश्रम दो प्रकार का है उसी प्रकार हमारे व्यय अर्थात् रुपया ख़र्च करने के भी दो ढंग हैं। एक उत्पादक और दूसरा अनुत्पादक। जो धन अर्थात् पूंजी सम्पत्ति को बढ़ाने के निमित्त ख़र्च की जाती है उसे उत्पादक व्यय कहते हैं और जो धन केवल अपने विषयों के विलासार्थ व्यय होता है उसको अनुत्पादक व्यय कहते हैं।

अपनी आर्थिक व्यवस्था को उचित रीति पर रखने वाले पुरुष अपने व्यावहारिक जीवन में अनेक सुख पाते हैं और अपने जीवन को बिना खटके सुख पूर्वक बिताते हुए अपने देश और समाज को उन्नतावस्था पर पहुंचाने को योग्य होते हैं और अपने देश और समाज का सुख लूटते हैं।

सामाजिक सुख]

उत्तम देश और समाज भी हमारे आनन्द की उचित सामग्री है। उत्तम देश में ही हमारी सम्पत्ति आदि आर्थिक व्यवस्थाएं ढंग पर रह सकती हैं और उत्तम समाज में व्यवहार होने से अपनी आन्तरिक शक्तियों की भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है और जीवन के सुख बढ़ते हैं, अतः अपने देश और समाज को भलाई करना अपने लक्ष्य साधन की सरल युक्ति है। विचार शील पुरुष इस कर्म को भी अपना परम पुरुषार्थ मानते हैं और इसी

(क) जो पुरुष निषिद्ध मार्ग से एक कौड़ी को भी निष्क (अशर्फ़ी) के समान उद्धार कर अर्थात् बचा कर यथोचित सन्मार्ग में कोटि द्रव्य देने पर्य्यन्त भी मुक्तहस्त (उदार) रहता है, उस श्रेष्ठ पुरुष का लक्ष्मी त्याग नहीं करती है।

को अपना आनन्द भी मानते हैं और इस हेतु प्रत्येक धर्म वीर महात्माओं को समयानुकूल अपनी सामाजिक रीतियों पर और नियमों पर आवश्यक विचार होते रहते हैं और व्यवहारानुकूल उनमें परिवर्तन भी होता रहता है। अपने अर्थ साधन की यह भी एक सुलभ रीति है कि जिस वस्तु को हम अपना लक्ष्य मान बैठते हैं उसके अतिरिक्त अन्य किसी और वस्तु पर अपनी दृष्टि न चलने पावे। यदि हमारी दृष्टि अन्य पदार्थ में चलायमान हो जाय तो लक्ष्य ठीक नहीं जमता है। संसार में प्रत्येक व्यक्ति का केवल अपने काम से काम होना चाहिये। दुनियावी आडम्बर सब धोखा देने वाले होते हैं—

अपने देश और समाज को सुधारने में चतुराई यही है कि जिन कामों से अपने समाज और अपने देश का गौरव बढ़े वही काम होने चाहिएं। अपने इस लक्ष्य को बिगाड़ कर अपने किसी आर्थिक विषय को साध लेने में कोई चतुराई नहीं है। प्रत्येक मनुष्य सदैव संसार में अपने श्रेय के लिये हर एक काम करता है, न कि अपनी हानि के लिये। जिन बातों से अपने समाज और अपने देश की मान-मर्य्यादा बिगड़ती हो उन कामों को करने में कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।

यों तो संसार में अपना अपना सुभीता प्रत्येक मनुष्य देखता है और अपने अपने लाभार्थ काम करने के लिये भी प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र है और एवं अपने ही लाभ के लिये कोई जो चाहे कर सकता है, परन्तु असली काम वही है जो किसी विशेष व्यक्ति के लाभार्थ न हों, वरन् सारे देश को एक साथ लाभ पहुंचावे। जिस समय देश में प्रत्येक व्यक्ति अपने ऐसे उदारता के काम को आप ही संभाल लेने को समर्थ हो जाता है, समझ लेना चाहिये कि देश सुधरा पड़ा है, जिस समय देश के निवासी अपने ही पैरों के बल से खड़ा होना सीख लेते हैं, उसी समय अपना देश और समाज सुधरा समझना चाहिये। इस प्रकार समाज में लोगों की मति सुधरने से देश भी सुधर जाता है। जब तक देश के मनुष्यों में अपने देश का अभिमान और जातीय प्रेम का अभाव रहता है, तब तक किसी को भी अपने देश की भलाई चाहना अज्ञानता है। बिना कारण के साधे कार्य्य का होना असम्भव है और बिना कार्य्य को किये फल चाहना बड़ी भूल है। कार्य्य और फल तो कारण रूप में वट वृक्ष के समान बीज

में सूक्ष्म रूप से व्याप्त रहता है। जब तक देश के लोग समस्त देश की भलाई को अपनी ही भलाई नहीं मानते हैं और समस्त देश को अपना ही घर नहीं मानते हैं, तब तक देश की भलाई करने का अधिकारी कोई नहीं हो सकता है और देश के आनन्द भोगने की बात तो दूर रही।

हमको समाज के आनन्द का अनुभव भी तब ही हो सकता है, जब हमारे सामाजिक प्रत्येक व्यवहार भी आनन्द देने वाले हों, क्योंकि हम मान बैठे हैं कि हमारे बाह्य व्यवहार ही हमारे आन्तरिक आनन्द को बढ़ाने वाले होते हैं। जिस देश में लोगों को हर तरह पर आनन्द रहता है उसी देश में विद्या, लक्ष्मी, बल और पराक्रम की वृद्धि होती है और वहीं के निवासी कलाकौशल-युक्त और व्यवसायी भी होते हैं। इस हेतु अपने जीवन में प्रत्येक मनुष्य को इन विचारों पर ध्यान रखना आवश्यक है कि किस रीति पर हमारा देश सुधर सकता है और किस रीति से हमारा समाज उन्नति पा सकता है और हमारे सच्चे आनन्द को बढ़ाने में सहायक हो सकता है। वास्तव में तो समाज के ही सुधरने से देश की उन्नति मानी जाती है। क्योंकि देश में प्रत्येक मनुष्य की मति सुधर जाने से समस्त समाज सुधर जाता है और इसी तरह प्रत्येक समाज के सुधर जाने से समस्त जाति और देश भी सुधर जाता है।

अतएव देश के प्रत्येक मनुष्यकी मति का सुधार करना ही देशके सुधरजाने का सरल उपाय है, न कि देशमें केवल विशाल भवन तथा अन्य वैषयिक सामग्री की वृद्धि ही देश की वास्तविक उन्नति है।

"You would do the greatest service to the state if you shall raise not the roof of the house, but the soul of the citizens; for it is better that great souls should dwell in small houses than for mean souls to lurk in great houses." (क)

(क) देश की सच्ची सेवा यही है कि तुम देश में सुन्दर और विशाल भवन और रमणीय दृश्य की उन्नति करने की अपेक्षा मनुष्यों के मनोभावों की ही उन्नति करने की चेष्टा करो। क्योंकि उदार महानुभावों का साधारण कुटियों में भी निवास करते हुए सर्वहित चिंतवन करना शोभा पाता है, न कि नीच कुटिल वृत्तियों का अवलंबन करके विशाल भवनों में निवास कर नीच वृत्ति वाले मन्दाशय पुरुष शोभा पा सकते हैं।

दूर देश वालों से अपना व्यवहार रखना अपने देश की अवनति समझना बिलकुल भूल है, बल्कि अपने ही मन की निर्बलता अपने देश की अवनति का मुख्य कारण है, बल्कि अन्य देश वासियों से अपना सच्चा और शुद्ध व्यवहार रखना अपने देश की उन्नति के लिये अत्यन्त उपयोगी है। देश का सुख वही भोग सकता है जिसने अपने को योग्य बनाया है। संसार में योग्यता ही की प्रतिष्ठा है। मनुष्य को विशेष ध्यान अपनी योग्यता बढ़ाने का होना चाहिये। फिर तो संसार में हमारी ढूंढ़ अपने आप होने लगती है। योग्य पुरुष की ही हर जगह पर हर घड़ी आवश्यकता होती है। चौरस पत्थर कभी निरर्थक सड़क पर नहीं पड़ा रहता है, योग्य पुरुष कभी दुःखी नहीं रहता है। जो पुरुष देश की भलाई करने के योग्य होगा वह अवश्य ही देश की भलाई करेगा। यह प्रकृति का नियम है कि जो वस्तु जिस योग्य होती है उससे वही काम बनेगा। यों तो प्रकृति का नियम है कि संसार में अपनी योग्यता के अनुकूल प्रत्येक पदार्थ का महत्व मान्य है, परन्तु मनुष्य स्वभावतः मतिमान प्राणी होने के कारण संसार में अपनी योग्यता बढ़ाकर विशेषतः महत्व पद का अधिकारी है।

संसार में मनुष्य देश और काल के अनुकूल सदैव अपने समाज की उन्नति करता आता है और इसी से अपना आनन्द लेता आता है। इसी नियमानुसार वर्तमान समय में भी अपने समाज की सुधार की चेष्टा करने से पहिले प्रत्येक विवेकी पुरुष को देश और काल का विचार कर लेना अत्यावश्यक है और विचारना चाहिये कि किस समय में कौन सी वस्तुएं हमारे कार्य्य को निवाह सकती हैं, किन बातों से हम यथार्थ में अपने समाज को लाभ पहुंचा सकते हैं और किस देश में हमारे समाज के लिये कौन वस्तु उपयोगी हो सकती है। अनादि काल से ही सृष्टि के प्रत्येक समाज के व्यावहारिक नियम इसी रीति पर बनते और बदलते चले आते हैं। यों तो प्रकृति की ओर से सारी पृथ्वी पर एक ही नियम वर्तमान है और उसी एक मात्र नियम पर प्रकृति के सारे काम चल रहे हैं और उसी नियम के अनुसार सारी सृष्टि पर मनुष्य समाज का नियम भी एक ही है। हम देखते हैं कि सृष्टि में जितने पदार्थ हैं

यद्यपि व्यवहार के लिये उनके मुख्य दो भेद हैं, (१) जड़ और (२) चैतन्य; परन्तु दोनों को प्रकृति के नियम पालन करने का बराबर अधिकार है। देश का अनुराग और जातीय प्रेम दोनों में बराबर है—देखिये! यदि वृक्ष एक स्थान से हटा कर दूसरे स्थान पर जमाया जावे तो वह सहसा अपने देश के वियोग को नहीं सह सकता है। यदि स्थूल पदार्थ कितनी ही दूर वायु में ऊपर डाला जावे तो वह तुरन्त ही स्थूल पृथ्वी पर आ मिलता है। यही हाल चैतन्य का भी है। प्रत्येक प्राणी अपने ही देश और अपनी ही जाति में विचरता है। व्यवहार के लिये इसी प्रकार चैतन्य के भी दो भेद हैं-(१) पशु और (२) मनुष्य। पशु और मनुष्य की सब स्वाभाविक चेष्टाएं समान हैं केवल अन्तर यही है कि मनुष्य में पशु की अपेक्षा ज्ञान विशेष है—

"ज्ञानं नराणामधिकं विशेषः"(क)

यदि यही विशेषता न होती तो मनुष्य भी अन्य पशुओं के समान हीन अवस्था में रहता। प्रकृति के इतिहासों से ज्ञात होता है कि मनुष्य ने उस ज्ञान को काम में लाने से कितने चमत्कार कर दिखाये हैं। इसने विशेषतः अपने देश और समाज को उन्नति पर पहुंचाने में कितने ही प्रयत्न किये हैं और इस हेतु देश और काल पर प्राचीन समय से ही विशेष ध्यान देते आये हैं और इन्हीं देश काल के प्रबल प्रभाव से गुण और कर्मों के अनुसार व्यवहारानुकूल मनुष्य जाति का व्यवहार के लिये पृथक् पृथक समाजों में विभाग भी हुआ है। और एवं प्राचीन काल से ही देश और काल के अनुसार प्रत्येक देश के प्रत्येक समाज के नियम सदैव बनते और बदलते आ रहे हैं। संक्षेपतः यदि भारत का ही प्राचीन इतिहास देखा जावे तो स्पष्ट विदित होता है कि श्रुतियों पर अठारह स्मृतियां बनी हैं तो क्या कारण हैं कि जब एक स्मृति तय्यार थी तो सत्तरह और रचने का कष्ट उठाया गया। परन्तु वे आचार्य्यगण त्रिकालदर्शी थे, देश और काल को ही प्रधान मानते थे। उन्हीं के अनुकूल स्मृति शास्त्र रचे गये और यदि एक रीति और एक नियम एक देश और एक काल के लिये प्रतिकूल होती थी तो उसको परित्याग करने में और नई अनु

(क) मनुष्य में सदसद्‌ विवेक ही अधिक है।

कूल रीति को ग्रहण करने में तनिक भी संकोच नहीं करते थे। इसी प्रकार प्रत्येक समय में हमको भी देश और काल ही प्रधान मानना आवश्यक है और प्रत्येक समाज के लोगों की हीन दशा पर ध्यान देकर अपने समाज को संशोधन करने के निमित्त जो रीतियां यथार्थ में सामाजिक मानसिक और शारीरिक उन्नति के मार्ग में बाधक प्रतीत होती हों उनको परित्याग किया जाय और निसंकोच होकर नई अनुकूल रीति को ग्रहण करने में तनिक भी संकोच नहीं होना चाहिये। अपने समाज की उन्नति की चेष्टा करने में पहिले प्रत्येक को इस बात की निश्चय कर लेना अत्यावश्यक है, कि कौन कौन सी बातें समाज को हानिकारक है। विचार पूर्वक देखा जाय तो प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि समाज में एक भी हानिकारक विषय देश को दीमक की नाईं चिपट कर गिरा देता है, तथापि किसी गिरे हुए समाज को फिर से खड़ा करने के लिये किसी आनन्दमयी सद् विद्या का प्रचार ही एक मात्र औषधि है। देश में केवल ब्रह्म विद्या का प्रचार ही हानिकारक विषयों से समाज को बचा सकता है। समयानुकूल अनेक प्रकार की कला कौशल युक्त रीति भांतियों के प्रचार से समाज की पूर्णोन्नति मानी जाती है। समाज में उत्तम रीतियों के प्रचार के निमित्त आवश्यकतानुसार विदेश यात्रा भी देशोन्नति का मुख्य उपाय माना जाता है। प्राचीन तथा आधुनिक इतिहासों से तथा अनुभव से जहां तक ज्ञान होता है यही बात निश्चय पाई जाती है कि प्रायः प्रत्येक देश तथा प्रत्येक जातियों ने इसी रीति से उन्नति पाई है, परन्तु यदि कोई विदेश जाकर वहां की रीति भांति देख कर अपने देश का अनुराग बिलकुल ही भूल जावे और अपनी विषयेन्द्रियों के वश में होकर अपने लक्ष्य को भी खो बैठे तो कितना विषाद पैदा होता है। विदेश यात्रा में उचित तो यों है कि विशेषतः किसी की खास किसी हीन रीति भांति पर बिलकुल भी ध्यान न देकर प्रथमं उसके आन्तरिक ऐसे शुभ गुणों को ग्रहण कर अपने देश में भी उनका प्रचार किया जावे जिससे अपने देश के हानिकारक विषयों का लोप हो। प्रत्यक्ष देखते हैं कि समाज में एक भी हानिकारक विषय किस देश और समाज को नहीं गिराता है? विशेषतः सामाजिक विरोधता तो मनुष्य जाति के उन्नति के वृक्ष के लिये कुठार है।

हम इस बात को तो मान ही चुके हैं कि असल में समस्त संसार में मनुष्य समाज एक ही है, केवल व्यवहारानुकूल मनुष्यों में कर्म विभाग हुआ है और एवं मनुष्य की प्रकृति के अनुकूल केवल आचार ही में स्वाभाविक भेद भी प्रतीत होता है और इसी विचार पर निश्चय करके पृथक पृथक समाज भी कल्पित हुए हैं, तो फिर यदि निरी अज्ञानता के कारण परस्पर सामाजिक विरोध माने जावें तो क्या समाज में आनन्द की वृद्धि हो सकती है? और यदि काल के प्रवल प्रभाव से किसी समाज व देश को किसी प्रकार की हानि व अवनति होती हो तो क्या परस्पर सहायता करना मनुष्य मात्र का स्वाभाविक धर्म नहीं है।

"But kinsmen true will safe remain,
Like lotus flowers in blooming pride,
Who firmly each in each confide,
And each from each support obtain."(क)

यदि किसी समाज या किसी गिरे हुए देश को फिर से उठाने के लिये किसी वीर महात्मा को अपनी वास्तविक व्यवहारिक दशा से कुछ नीचे झुकना भी पड़े तो क्या चिन्ता है। पक्षपात को छोड़ कर शुद्धान्तःकरण से विचारें तो प्रत्यक्ष है कि पृथ्वी पर गिरी हुई वस्तु को उठाने के निमित्त हमको स्वभावतः नीचे झुकना पड़ता है। ऐसे शुद्ध व्यवहार से किसी के स्वत्व और धर्म को लेश मात्र भी हानि नहीं पहुंच सकती है। धर्म तो सदैव कूटस्थ एकरस नित्य शुद्ध स्वरूप है। सच्चा धर्म बाहर से मुलम्मा किये हुए कच्चे मटके के समान नहीं है, वह तो सदा शुद्ध सुवर्ण के कलश के समान है; जिधर से चोट आवेगी उधर को ही झुकेगा, परन्तु टूटेगा नहीं और जब चाहे यह सीधा हो सकता है और फिर ज्यों का त्यों हो जावेगा। असल में तो सारी सृष्टि में मनुष्य समाज एक ही है और सर्वत्र में एक ही धर्म वर्तमान है केवल देश और कालानुसार सामाजिक नियमों में व्यावहारिक भेद प्रतीत होता है। यह भेद तो

(क) वह समाज ही निर्विघ्नता पूर्वक कमल के पुष्पवत् विकसित रहते हैं जो एक दूसरे पर विश्वास (सहारा) रखते हुए परस्पर सहायता प्राप्त करते हैं।

स्वाभाविक ही है, विचारिये कि हिमालयों के शिखरों पर रहने वाले पशुओं की और दक्षिणी देशों के रहने वाले पशुओं की परस्पर शारीरिक समानता और व्यावहारिक रहन सहन में एकता हो सकती है ? एक देश के रहने वाले मनुष्यों के सब आचार दूसरे देश वालों के सदृश कदापि नहीं हो सकते हैं। सृष्टि में एक वस्तु दूसरी के समान नही हो सकती हैं।

"That no two animals or plants in nature, are identical in all respects."—*Darwin's Ist. Axiom.*(क)

परन्तु आन्तरिक गुण और ईश्वरीय आस्तिकता सब में समान है। प्रेम प्रत्येक जीव में रहता है, सच्चाई को सब चाहते हैं, झूठ को सब तिरस्कार करते हैं; ईश्वरीय शक्ति पर किसी न किसी प्रकार से सब का समान विश्वास है। तात्पर्य्य यह है कि आन्तरिक धर्म (Religion) संसार में प्रत्येक मनुष्य का समान है, तो हठ वश सामाजिक नियमों को धर्म के साथ मिला देना देश की अवनति का मुख्य कारण समझना चाहिये। धर्म (Religion) और देश के आचार (Custom) कभी एक समान नहीं हो सकते हैं। इन दोनों में ज़मीन और आसमान का जैसा अन्तर है; परन्तु जिस देश के लोग इन दोनों को एक ही मान बैठते हैं उस देश के विनाश का यही कारण समझना चाहिये। सामाजिक नियम सदैव परिवर्तन शील और कृत्रिम होते हैं, परन्तु धर्म सदैव एक रस है। स्वयं सिद्ध, कूटस्थ, नित्य और आनन्द स्वरूप है। समाज में अधिक आचार (Customs) और संस्कार (Rituals) की मर्य्यादा होने से समाज का गौरव प्रकट होता है। यह विचार अनुभव सिद्ध है कि जिस समाज में संस्कार और आचार की प्रत्येक मर्य्यादाएं अधिक और दृढ़ रहती हैं, उसी समाज से धर्मवीर महात्मा (Spiritual giants) अधिक निकल पड़ते हैं और उस ही समाज में मनुष्य अपने जीवन की प्रत्येक अवस्थाओं के धर्म को यथार्थ रीति से पालन करने को समर्थ होते हैं।

(क) कोई भी जन्तु अथवा वनस्पति सर्व प्रकार से समान रूप नहीं होते है।

संसार में हमारा मन, कर्म और वाणी से इस प्रकार का शुद्ध व्यवहार होने से हमारे जीवन के व्यवहार भी आनन्ददायक और हमारी सुख सम्पत्ति को बढ़ाने वाले होते हैं। यदि सृष्टि की स्वाभाविक व्यवस्था पर विचार किया जावे तो स्पष्ट है कि संसार में प्रत्येक पदार्थ का गुण तथा व्यवहारानुकूल परस्पर भेद है और एवं प्रत्येक विभाग के पृथक पृथक समाज तथा जातियां निर्मित हैं। इसी क्रमानुसार मनुष्य समाज संसार के अन्य स्थावर, जंगम, जलचर, खेचर, वनस्पति आदि से भिन्न है, परन्तु व्यवहार के अनुसार मनुष्य के भी स्त्री और पुरुष दो भिन्न भिन्न समाज हैं। यद्यपि इन दोनों के मानसिक व्यवहार एक ही हैं, शारीरिक व्यवहार भी प्रायः एक ही हैं, केवल तनिक भेद है। परन्तु इनके जीवन व्यवहार भिन्न भिन्न हैं, तथापि इन दोनों के परस्पर एक दूसरे के धर्म पालन करने में सहकारी होने के कारण दोनों संसार में एक ही धर्म को साधन करते हैं।

[जीवन धर्म]

यों तो अपने जीवन में प्रकृति के नियमों का पालन करना ही मनुष्य का मुख्य धर्म है, परन्तु हमारे सार्वजनिक (Public) और निज (Private) व्यवहार के विचार से धर्म की भी दो भिन्न भिन्न शाखाएं हैं—एक तो हमको संसार के अन्य जीवादिक दृश्यमान पदार्थों से अनेक धर्म पालनीय है और दूसरे हमारे अपने ही जीवन में बहुत से ऐसे आवश्यक धर्म हैं जिनका हमको अपने कल्याण के निमित्त बोध हो जाना अत्यन्त आवश्यक है। हमारे जीवन पर्य्यन्त समय समय के जो परम कर्तव्य कर्म हैं वही हमारे जीवन के मुख्य धर्म हैं और एवं हमारी अवस्थानुकूल हमारे जीवन धर्म की भी पृथक पृथक कक्षाएं हैं। परन्तु यह स्मरणीय विषय है कि इन सर्वावस्थाओं में अपने लक्ष्य से अपनी दृष्टि न हटने पावे और अपने जीवन के प्रत्येक व्यवहारों से हार के सूत्रवत् आनन्द भिन्न न हो। प्रथम अवस्था में हम स्वयं अपने धर्म के केन्द्रस्थान आप ही बने रहते हैं और उस समय हमको यह परम कर्तव्य है कि सद्विद्याओं को ग्रहण करके तथा ब्रह्मचर्य्य आदिक अनेक शुभाचरणों का अवलम्बन करके अपनी शारीरिक और मानसिक उन्नति करें, तत्पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश होने पर हमारे धर्म की भिन्न भिन्न कतिपय शाखाएं बन जाती हैं। यथा—

(१) अपने गृहस्थ के महत्व को बढ़ाना।

(२) अपनी सम्पत्ति आदिक की उन्नति करना।

(३) अपने देश और समाज की उन्नति करना, एवं इस अवस्था में हमारे अनेक अन्य धर्म हैं। तदनन्तर हमारे धर्म का व्रत बृहत् होता जाता है और अपने गृहस्थ अपने देश और अपने समाज से अन्य हम सारे संसार को अपना ही घर और अपना ही देश मांनने लग जाते हैं और फिर तो अपने संस्कार इस बृहद् सीमा तक बढ़ जाते हैं कि वास्तव में हमारी सांसारिक धर्म की सारी मर्य्यादाएं टूट जाती हैं और हम सर्वत्र में अपनी ही आत्मा को व्याप्त देखते हैं और अन्त को सुख और शान्ति के साथ अपने आनन्द स्वरूप में लय हो जाते हैं। इस प्रकार संसार में स्त्री और पुरुष के धर्म समाप्त होते हैं।

स्त्रीजीवन-व्यवहार]

यों तो स्थूल विचार से व्यवहार में स्त्री और पुरुष के धर्म समान हैं और एवं संसार में इन दोनों की प्रधानता मान्य है, परन्तु मनुष्य समाज में स्त्री-जाति की अधिक उपयोगिता होने के कारण स्त्रियों के जीवन व्यवहार विशेष आलोचनीय है। उत्तम व्यवहार युक्त स्त्रियां ही संसार में आनन्द वर्षाने वाली होती हैं। वीर स्त्रियां ही हमारे जीवन के व्यवहारिक और पारमार्थिक सुखों को बढ़ाती हैं और वही हमारे जीवन के धर्मों को निर्विघ्न पूर्वक निवाहने में सहकारिणी भी होती हैं। वीर सन्तान जनने वाली भी ऐसी ही वीर माताएं होती हैं। गृहस्थ की सर्व प्रकार की सामग्री में वीर सती स्त्रियां ही सर्वोत्तम हैं। स्त्री को पुरुष के साथ गृहस्थ का भार चलाने और सृष्टि को विस्तृत करने के निमित्त रथ के पहियों के समान दोनों उपयोगी रचे हैं और इन्हीं दो पहियों के बल से गृहस्थ रूपी रथ सुगमता से चल सकता है। यह बात तो प्रकृति और व्यवहार से भी सिद्ध है कि रथ दो पहियों पर सुगमता से चल सकता है और जो कुछ भी भार उस पर हो निर्विघ्नता पूर्वक ले जा सकता है। तात्पर्य्य यह है कि रथ की योग्यता पहियों पर और पहियों की उनकी समानता और बनावट पर निर्भर हैं। जब तक दोनों पहिये हर प्रकार से एक समान न हों और दोनों अपनी अपनी लीक पर बराबर न चलें तब तक भार

उठाना ही दुष्कर हैं, अन्य सुख तो एक तरफ रहे। जब तक गृहस्थों में अबलाओं की प्रतिष्ठा नहीं होनी है और जब तक ये विचारी अबलाएं अविद्या के कारण काल कोठरियों में बन्द दुःखित रहती हैं तब तक अपनी कुछ भी उन्नति चाहना केवल भूल है।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥-मनुः(क)

जिस कुल में बहिन, स्त्री, पुत्री और पुत्र की बहू आदि दुःखी होनी हैं वह कुल शीघ्र ही नाश हो जाता है और देवता तथा राजा आदि से पीड़ित होता है और जहां ये दुःखित नहीं रहती हैं अर्थात् सदा प्रसन्न रहती हैं वहां धन आदि से सदा वृद्धि को प्राप्त होता है। भगिनी, पत्नी, बेटी, बहू ये जिन घरों को दुःखी हो कोसती हैं वे घर शीघ्र ही धन पशु आदि सहित नाश को प्राप्त होते हैं। ठीक है जब जड़ ही पर सिंचाई नहीं होनी है तो वृक्ष के यही हाल होते हैं। "छिन्ने मूले नैव शाखा न पुष्पम्।" जड़ के सूखे पड़े रहने से वृक्ष पर अच्छे पत्र पुष्प की आशा करना अज्ञानता है। गृहस्थों में स्त्रियों के दुःखित रहने से गृहस्थी कभी सुखकारक नहीं हो सकती है। सन्तति तो तब तक कदापि अच्छी नहीं हो सकती है, जब तक माता सुशिक्षिता न हो।

"यावन्न साक्षरा माता यावत्तद्बालबालिकाः"(ख)

शिक्षा शब्द का अर्थ तो बड़ा गहरा है, परन्तु इतना शास्त्र ज्ञान तो स्त्रियों को अवश्य ही होना चाहिये कि उनको अपने कर्तव्य का ध्यान हो जाय और अपने धर्म तथा गृहस्थ के नियमों को वे भली भांति जान सकें। इतनी ही शिक्षा होने से शनैः शनैः उनके अज्ञान जन्य बन्धन भी मुक्त होते जाते हैं।

(क) अर्थ विषयान्तर्गत है।

(ख) माता जब तक साक्षरा नहीं होती है तब तक उसकी संतति भी मूर्ख ही रहती है।

स्मरण रहे कि गृहस्थों में स्त्रियों के अप्रतिष्ठित होने से समाज का गौरव कभी नहीं बढ़ सकता है। जिस समाज में स्त्रियां प्रतिष्ठा पाती हैं वहां सर्व प्रकार के मङ्गल नित्य होते रहते हैं। यदि विशेष विचार किया जाय तो प्राचीन इतिहासों से तथा अनुभव से सिद्ध होता है कि संसार भर के प्रत्येक देश और समाज की उन्नति स्त्रियों की ही योग्यता पर निर्भर रही है। यदि भारत का ही प्राचीन इतिहास देखा जाय तो ज्ञात होता है कि प्राचीन समय से ही भारत का गौरव केवल स्त्रियों ने ही बढ़ाया है। इसी कारण स्त्रियों की विशेष प्रतिष्ठा होती आई है और इनकी धर्म-रक्षा के अर्थ समय समय पर अनेक उपाय और नियम बने हैं और स्त्रियों को सुरक्षित किया गया है।

भाइयो! यह बात बिलकुल सत्य है कि जिस समय चारों ओर से प्रचण्ड वायु का वेग आता जान पड़ता है और अनेक प्रकार के हानिकारक दुष्ट जीवों का भय होता है तो बागवान अपने बाग के सब से कोमल और लाभदायक वृक्ष की विशेष संभाल करता है और उसकी रक्षा के अर्थ उस समय और किसी बात का विचार न करके बड़ी पुष्ट बाड़ बांधता है। पर यह बड़ी भूल है कि वायु के वेग के शान्त हो जाने पर और दुष्ट जीवों का भय भी कम हो जाने पर बाड़ वैसी ही रख दी जाय और वृक्ष को सूर्य्य के प्रकाश और वायु के स्पर्श से वर्जित रक्खा जाय। इसी प्रकार जिस समय समाज में स्त्रियों पर घोर आपत्तियां पड़ती हैं और अनेक घृणित कर्मों से कन्याएं पीड़ित रहती हैं तो उस समय और किसी बात का विचार न करके इन दीन दुःखियों की रक्षा और उनका धर्म रखना सर्वथा श्रेयस्कर होता है और बिना किसी प्रकार की दृढ़ मर्य्यादा बांधे उस समय काम किसी ढंग से नहीं चल सकता है, परन्तु जब समाज सब प्रकार की आपत्तियों से सुरक्षित रहता है तो क्या लकीर का फकीर ही बना रहना उचित है? यहां जरा विचार का मौका है।

हम देखते है कि समय समय पर चारों ओर से "स्त्री-शिक्षा" की ध्वनि गूंजती रहती है, परन्तु यह निश्चय नहीं कर पाते हैं कि स्त्रियों के लिये किस प्रकार की शिक्षा से अभिप्राय है। यदि विचार

किया जावे तो प्रतीत होता है कि स्त्रियों के लिये उतनी लाभदायक और कोई भाषा नहीं हो सकती है जितनी अपनी ही मातृभाषा हो सकती है, क्योंकि स्त्री-शिक्षा में हमारा यही लक्ष्य नहीं होना चाहिये कि स्त्रियां विदेशी भाषा सीख कर विदेशी रहन सहन सीखें और वैसा ही आचरण करें, वल्कि सर्वथा श्रेय यह है कि उनको योग्य माता बनने के लिये उनको ही मातृ-भाषा सिखानी चाहिये, क्योंकि अपने समाज और अपने देश के हित जैसी अच्छी नीति और जैसे अच्छे देशोपयोगी नियम स्त्रियों को अपनी ही देश भाषा के सामाजिक और धार्मिक शास्त्रों में मिल सकते हैं वैसे अच्छे और उपयोगी नियम और भाषा में नहीं मिल सकते हैं। दूसरे स्त्री-शिक्षा में हमारा यह भी लक्ष्य नहीं होना चाहिये कि स्त्रियां अपने गृहकर्मों को छोड़ संसार में सेवा वाणिज्यादिक अन्य अन्य व्यवहारिक कर्मों में प्रवृत्त रहें, वल्कि ये जिस प्रकार घर की सारी चीज़ों पर अपना अधिकार रखती हैं उसी प्रकार यदि अपने देश की भाषा के भण्डार की चाभी भी उन्हीं के हाथ में रहे तो कैसी अच्छी बात है, और यह कैसी अच्छी बात है कि यदि गृहस्थ के नैमित्तिक कर्म भी उनको ही सौंप दिये जांय और वे घरों में बैठ अपने धार्मिक और सामाजिक शास्त्रों का अवलोकन करती रहें और अपने गोद में खेलते बच्चों को बचपन ही से सद्विद्या का उपदेश करके उनको वीर बनाती रहें। स्त्रियों का तो यही परम कर्तव्य धर्म है।

"We do not often hear of great women as we hear of great men. It is of good women that we mostly hear, and it is probable that by determining the character of men and women for good, they are doing even greater work, than if they were to paint good pictures, write great books or compose great operas."

"But they have done something far greater and better than all this, for it is at their knees that upright and virtuous men have been trained the most

exoellent production in the world."

—*Samuel Smile.* (क)

स्त्रियों को धार्मिक विद्या पढ़ाने से उनको अपने शास्त्रोक्त सती धर्म का बोध भी हो जाता है, जो उनको अपने धार्मिक जीवन व्यतीत करने में अत्यन्त आवश्यक है। सतीत्व धर्म पालन करने के लिये स्त्रियों को उचित शिक्षा भी अत्यन्त आवश्यक है। बिना शिक्षा के उनको शास्त्रोक्त सती धर्म का बोध होना ऐसा है जैसे कि पानी में पैर रक्खे बिना नदी तैरने की चेष्टा करना है। सती स्त्रियों के लिये शास्त्रों में यह एक मात्र बीज मंत्र लिखा है किः—

"पतिमेकं भजेत्सती"

अर्थात् सती केवल एक ही शास्त्र विधि से पाणिगृहीत पति को भजे। यद्यपि उच्च कुल की स्त्रियां इस बीज मंत्र को अपनी बुद्ध्यनुसार पालन करती भी हैं, परन्तु वे उचित शिक्षा के अभाव से इस मंत्र का यही अभिप्राय मानती हैं कि स्त्रियां अपने एक मात्र पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष को न चाहें। किसी सीमा तक उनका यह अर्थ ठीक भी है। क्योंकि यह आचरण भी सती धर्म का मुख्य

(क) उच्च आशय चारुतर चरितावली विस्तार कर।
सत्य शिक्षा जगत में दे पुण्य पुञ्ज प्रसार कर॥
नारियां ही लोक की सद्धर्म दीक्षा रूप हैं।
अज्ञानतम में ज्योति की ये ज्वलितज्वाल अनूप हैं॥
जाति को उन्नत बनाना खेल इनके हाथ का।
धर्म में दृढ़ता खरा परिणाम इनके साथ का॥
राष्ट्रीय गौरव देश के अभिमान के सामान हैं।
सम्पत्ति की हैं राशि वैभव कीर्त्ति की गुणखान हैं॥
संगीत पारंगत कवीश्वर चित्रविद्या विशद को।
वेदान्तवाद प्रवीण रण के रंग कोविद वीर को॥
ढाल कर सांचे अनोखे में इन्होंने क्या किया।
कर रही हैं फिर करेंगी पूर्व में जो था किया॥

—पण्डित सत्यशरण रतूड़ी।

अङ्ग है, परन्तु अबोध अबलाओं को अपना सती धर्म यहीं पर सीमा बद्ध नहीं कर लेना चाहिये। स्त्रियां संसार में पुरुष के लिये केवल विषय-भोग और सन्तानोत्पत्ति का ही यंत्र नहीं रची गयी है; बल्कि शास्त्रों ने उनके लिये कई एक धर्म कहे हैं। यथाः—

कार्य्येषु मन्त्री करणेषु दासी।
भोजेषु माता शयनेषु रम्भा॥
धर्म्मानुकूला क्षमया धरित्री।
भार्य्या च षाड्गुण्यवतीह दुर्लभा॥(क)

The rights ot woman what are they ?
The right to labour, love and pray;
The right to weep with those who weep,
The right to wake when others sleep;

The right to dry the falling tear,
The right to quell the rising fear,
The right to sooth the brow of care
And whisper comfort in dispair;

The right to watch the parting breath,
To sooth and cheer the bed of death.
The right when earthly hopes all fail
To point to that within the veil;

The right the wanderer to reclaim
And win the lost from path of shame.

(क) व्यावहारिक कार्य्यों में मन्त्री के समान और कार्य करने में दासी समान, भोजन समय में मातृवत् प्रेम करने वाली, शयन काल में रम्भावत् चतुरा शास्त्रोक्त धर्माचरण में अनुकूल, क्षमा में पृथ्वी के समान सहनशीला इस प्रकार षड्गुणालंकृत स्त्री इस संसार में विरली ही हैं।

The right to comfort and to bless
The widow and the fatherless;

The right to live for those who love,
The right to die that love to prove,
The right to brighten earthly homes
With pleasant smiles and gentle tones;

The right to shed new joy on earth,
The right to feel soul's bright worth,
The right to lead the soul to God
Along the path her saviour trod;

The path of meekness and of love,
The path of faith that leads above,
The path of patience and of wrong,
The path in which the week grow strong.

—*Mr. Little.* (क)

(क) नारियों के कर्म का कर्त्तव्य का विस्तार क्या ?
चुपचुपाती ये नहीं करतीं जगत में क्या न क्या ॥

सींचती निश्चिन्त सारे प्राकृतिक छवि धाम का ।
एकान्त घूंघट ओट में है चित्र अति अभिराम का ॥

निद्रित हुआ निशि मध्य में जब शान्त सारा गेह है ।
जाग्रत तदा शुभचिन्तना में श्रान्त इनका देह है ॥

अञ्चल उठा कर बालकों के सुप्त मुख को चूमती ।
आगामि दिन की कार्य-चिन्ता-वश सदन में घूमती ॥

शोक से सन्तप्त मन निज आंसुओं की दृष्टि से ।
सींच कर शीतल बनातीं सान्त्वना की दृष्टि से ॥

रोते हुओं की अश्रुधारा पोंछती हैं सर्वदा ।
हंसते वदन पर वार जाना जानती हैं वे सदा ॥

यदि स्त्री-जाति के अति सूक्ष्म गुणों पर विचारा जावे तो वर्णन करना लेखनी की सामर्थ्य से बाहर है, तथापि उन गुणों में से प्रधान गुण उनमें अति उत्कृष्ट प्रेम पाया जाता है जिस गुण करके शास्त्रों ने इनको प्रेम का मन्दिर (Shrnie of love) कथन किया है। यह इनमें स्वाभाविक गुण है। देखिये कन्या के पैदा होते ही इसके मुख से प्रेम माधुर्य्य और शान्ति आदि शुभ गुण स्वतः झलकते हैं और जब इनको कुछ ज्ञान होता है तब इनका अपनी माता, पिता, भाई, बहिन पर पुत्र की अपेक्षा अधिक प्रेम होता है, पश्चात् युवती होने पर इनका स्वभावतः अपने पति तथा पति-गृह

कण्ठगत जब प्राण हैं कातर भयासुर व्यक्ति का।
प्रेतपथ प्रस्तुत हुआ निःशेष शारी शक्ति का।

मृत्युशय्या को समुन्नत ज्ञान के उपदेश से।
आनन्दमय करती सदा हैं शान्ति के आवेश से।

आश्रय निराश्रय के लिए आशा महा नैराश्य में।
देती विपद में धैर्यपरगोयोग मोहालस्य में॥

आश्वासना अति दुःख में उत्साह उद्यमहीन में।
शरण व्याकुल भीत में सुख सान्त्वना अति दीन में॥

वीर वर में शौर्य है जीवन मनुष्य समाज में।
शोभा सकल संसार की इनके समुन्नत साज में॥

मंगल अमंगल में सदा आनन्द गहरे शोक में।
सुख कर रहे आपत्तियों में स्वर्गसम नरलोक में॥

शोभा सदन की हैं सदा सुंदर मधुर मुसकान से।
खिलता उदासी हृदय भी मुखचन्द्र के ही ध्यान में॥

लोल लोचन से, स्वरीले कण्ठ मीठे बोल से।
वश्य करती जगत को छवि राशि अति अनमोल से॥

प्रेम को भर हृदय में दृढ़ भक्ति रख परमेश में।
व्यग्र रहतीं सर्वदा गृहकार्य श्रम अविशेष में॥

चिन्तना गम्भीर इनको भावि मानव जाति की।
कीर्तना चरितावली अविसदृश विनत अतीत की।

—पण्डित सत्यशरण रतूड़ी।

पर अत्यन्त प्रेम होता है। पुनः वही कन्या जब जायापद को प्राप्त होती है तो किस दर्जे के लालन पालन से अपनी सन्तान की रक्षा करती है, सर्वसाधारण को विदित है। देखिये शास्त्रों ने इनके जीवन के समय को किस प्रकार बांटा है। कुमारी अवस्था में स्त्री पिता के घर में दृढ़ ब्रह्मचर्य्य में रह कर उचित शिक्षा ग्रहण करें। पुनः तरुणावस्था में युवती गृहिणी पद के योग्य होती है जिसको आवश्यकतानुसार स्वीकार करें और विचार पूर्वक किसी सुंदर आरोग्य शुभ गुणों करके अलंकृत अपने मन के अनुकूल समान कुल वाले नवयुवक को अपना धर्मपति पाकर ब्रह्मचर्य्यावस्था में उसने जो कुछ धर्म सच्छास्त्रों में अवलोकन किया हो उनके अनुकूल गृहस्थ के नियमों को पालन करे और प्रेम पूर्वक अपने घर के कारोबार को संभाले, अपने गुरु जनों का पूजन करे और अपने पति के हित अपना शरीर अर्पण कर दे। शास्त्र गृहिणी को किस तरह पर उपदेश करते हैं यह विचारणीय है।

"भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्म्मतीर्थव्रतानि च।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत्॥"
"स्त्रीभिर्भर्तृवचः कार्यमेष धर्मः परः स्त्रियः।
आशुद्धेः संप्रतीक्ष्योहि महापातकदूषितः॥"

फिर वही कन्या जायापद को प्राप्त होती हैं, यह अवस्था उनकी सब से उत्तम और उपयोगी होती है। इस दर्जे को प्राप्त हुई स्त्रियों के लिये शास्त्रों में प्रमाण हैं कि:—

"तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः"

अर्थात् वही स्त्री जाया पद की अधिकारिणी होती है जिसके गर्भ में पति वीर्य रूप से प्रवेश होकर पुनः जन्म लेता है।

(क) स्त्रियों का परमपूज्य देवता तथा गुरु पति ही है एवम् धर्म, पुण्यतीर्थ तथा समस्त व्रत स्वरूप भी पति ही है तस्मात् उपरोक्त तीर्थं व्रतादिकों को परित्याग करके अनन्य भाव से पति की ही आराधना करे। स्त्रियों का सर्व प्रकार पति की आज्ञा का पालन करना ही परमोत्कृष्ट धर्म है और महापातक हत्या से दूषित पति पति-भक्ता-स्त्रियों से प्रायश्चित्त पर्यन्त प्रतीक्षा करने योग्य है॥

"पतिर्जायां प्रविशति गर्भोभूत्वेव मातरम् ।
ततो पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते ॥" (क)

पति माता के गर्भ के समान अपनी स्त्री के गर्भ में वीर्य्य रूप से निवास करता है और फिर वहां नया जन्म लेकर दसवें मास में पैदा होता है। देखिये, बाद को उस धर्मशीला युवती का अपने पति से किस उत्तम दर्जे का सम्बन्ध हो जाता है। इस अवस्था में उनको कितने नियम पालनीय हैं और कितने कर्तव्य आचरणीय हैं, शास्त्र भरे पड़े हैं। यही अवस्था है जिसमें स्त्री के ऊपर अपने ही कुटुम्ब का नहीं, बल्कि समस्त जाति के सुधार का भार है। उनके इस अवस्था में जो पुत्र व पुत्री पैदा होते हैं उनको संसार यात्रा भली भांति पूर्ण करने के लिये तय्यार करना भी उन्हीं पर निर्भर है। सन्तान पर पिता की अपेक्षा माता के स्वभाव तथा शुभ व अशुभ गुणों का अधिक तर प्रभाव पड़ता है, क्योंकि गर्भावस्था समय से ७ वर्ष की अवस्था पर्य्यन्त बालक माता ही के पास रहता है और उस पर माता का ही सब से अधिक अधिकार रहता है।

"It is because the mother far more than father influences the action and conduct of the child that her good example is of much greater importance in the home"—*Samuel Smile.* (क)

किसी सती ने जिसका पुत्र ४ वर्ष की अवस्था का था एक महात्मा जी से प्रश्न किया कि महात्मा जी मेरे पुत्र की अवस्था ४ वर्ष की है और अब मैं उसकी शिक्षा कब से आरम्भ करूं, महात्मा जी ने उत्तर दिया कि माता जी यदि आपने अपने पुत्र को अभी तक शिक्षा देना आरम्भ नहीं किया है तो आप ने उसकी आयु में से ४ वर्ष वृथा नष्ट कर दिये हैं। माता का समय तो अपने पुत्र को शिक्षा करने का उसके पैदा होते ही आरम्भ होता है। मंदालसा तो अपने

(क) अर्थ विषयान्तर्गत है।

(ख) पिता की अपेक्षा माता के गुणों का बालकों के स्वभाव और कर्म पर अधिक प्रभाव होता है, क्योंकि उनका आदर्श चरित्र ही गृहस्थ में अत्यन्त प्रबल रहता है।

गोद में खेलते दूध पीते बच्चे को ब्रह्म विद्या का उपदेश करती रही थी और उसने अपने सातों पुत्रों को ब्रह्म निष्ठ बनाया था। यही अवस्था है जिसमें सती अपने सतीत्व को संसार को परिपूर्ण रीति से जता सकती है। "सती" शब्द का अर्थ यथार्थ में "सच्चरित्रा" है अर्थात् कुलवधू अपने शुद्ध और सच्चे चरित्रों से अपनी इन उपरोक्त अवस्थाओं को निवाहे। पश्चात् उसकी अन्तिम अवस्था है; जिस अवस्था में वह उपरोक्त विधि से अपने जीवन को सुख पूर्वक विता कर अपने सुचरित्रों से सुरक्षित कुटुम्ब का भार अपनी योग्य पुत्रवधू के ऊपर छोड़ कर आप अपने ऐश्वर्य्य का सुख भोगती है और अन्त को अपने पुत्रादिकों को अपने सांसारिक तथा पारमार्थिक अनुभवों का उपदेश करती हुई प्रेम और शान्ति से अपने परिवार को शुभाशीर्वाद देती हुई आप परम धाम को प्राप्त होती है। ऐसे नियम पर चलने वाली सतियों की ही संसार में सदैव प्रतिष्ठा होती है और देव-वधुओं के समान संसार में वे पूजी जाती हैं।

यस्य भार्य्या शुचिर्दक्षा भर्तारमनुगामिनी।
नित्यं मधुरवक्त्री च सा रमा न रमा रमा।(क)

ऐसी ही सुशिक्षिता सती स्त्रियों के प्रभाव से देश और समाज का गौरव बढ़ता है और गृहस्थों में स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति होती है। वीर सन्तान जनने वाली ऐसी ही कुल वधू होती हैं। सुशिक्षिता माताएं ही अपनी सन्तान को उत्तम शिक्षा के अधिकारी बना सकती हैं और वही बचपन में अपनी सन्तानों में उत्तम संस्कार जागृत कर सकती हैं। वास्तव में बालकों को उत्तम विद्या प्रदान करने में विदुषी माताओं के समान और कोई अन्य शिक्षक योग्य नहीं हो सकता है।

"A good mother is worth than hundred school masters."—*George Herbert.* (ख)

(क) जो स्त्री पवित्र, चतुर तथा भर्ता की आज्ञा की अनुसरण करने वाली स्वभावतः मधुर वाणी बोलने वाली होती है, वास्तव में वही लक्ष्मी है।

(ख) एक योग्य माता सैकड़ों अध्यापकों से अधिक उपयोगी होती है।

[पुरुष जीवन व्यवहार]

स्वाभाविक नियम है कि उत्तम क्षेत्र में ही उत्तम पौधे उगते हैं और उत्तम वृक्षों पर ही उत्तम फल फूल निकलते हैं; ऊसर भूमि में केसर के पौधे नहीं उगते हैं। आम के वृक्ष पर बबूल के फल और गुलाब पर करीर के फूल नहीं निकलते हैं, सिंहों के शूकर और हंसों के काग पैदा नहीं होते हैं। जैसे गुण मा बापों में होते हैं वैसे ही गुण सन्तान में भी होते हैं। इस लिये देश और समाज की भलाई चाहने वाले महात्माओं को उचित है कि वे पहिले आप ही शुभ गुणों को ग्रहण करें और अपनी सन्तान को भी भला बनावें। जो माता पिता आप विद्वान होते हैं उनके बाल बच्चे भी अवश्य विद्वान ही होंगे, जो आप आरोग्य होंगे उनके बालक भी आरोग्य ही होंगे, जो आप निर्विषयी होते हैं उनकी सन्तान निर्विषयी ही होगी और जो अपने आप स्वरूपवान होंगे तो उनकी सन्तान भी स्वरूपवान ही होगी अर्थात् बच्चे अपने मा बापों से ही पहिले पहिल गुण ग्रहण करते हैं, क्योंकि बालक माता पिताओं के ही प्रतिरूप हैं। माता पिता के अङ्गों से बालकों के अङ्ग बनते हैं, उनके मन से बालकों के मन बनते हैं और उनके हृदयों से बालकों के हृदय बनते हैं।

अङ्गादङ्गात् सम्भवति हृदयादधि जायते।
आत्मावै पुत्रनामासीदिति०—मनुस्मृति(क)

बहुत से गुण ऐसे हैं जिनको बालक माता के गर्भ ही से ग्रहण करने लगता है, जैसे यदि गर्भावस्था में किसी युवती का तीक्ष्ण स्वभाव हो तो गर्भ में स्थित कोष पर वैसा ही प्रभाव पड़ेगा। यदि युवती को ऐसी दशा में कभी भय कम्प आदि कुछ अनिष्टाघात हो जावे तो बच्चे का निर्बलमन, बुद्धिहीन, कायर और कुरूप हो जाना सम्भव है। यदि माता पिता किसी कुरोग से पीड़ित हों तो बच्चा भी अवश्य उसी कुरोग से पीड़ित होता है, परन्तु यदि माता पिता शुभ गुणों करके अलंकृत हों तो क्यों न सन्तान भी वैसी ही हो। बालक प्रायः सब गुण अपने माता के ही ग्रहण करता है।

(क) अर्थ विषयान्तर्गत है।

"That the offspring tend to inherit the peculiarities of their parents." —*Darwin's 2nd. Axiom.* (क)

स्वाभाविक गुणों से अन्य व्यवहार भी बालक अपने माता पिता तथा संसार के अन्य लोगों से सीखता है। बच्चे अपने मा-बाप को खाते पीते देख खाना पीना सीखते हैं, उनको बातचीत करते देख बात-चीत करना सीखते हैं और उनको लड़ाई झगड़ा करते देख वही बातें सीख लेते हैं। संसार के लोगों को मांस मदिरा खाते पीते देख वही खाने पीने लगते है, उनको हिंसा करते देख उनको भी हिंसा करने का साहस पड़ता जाता है। इसी तरह वह जैसी बातें संसार में अपने सामने बाल्यावस्था से व्यवहार में आती देखते हैं वैसे ही आचरण आप भी करने लगते हैं और जीवन पर्य्यन्त उन्हीं आचरणों के अनुकूल कर्म करते रहते हैं।

"The training of any man, even the wisest cannot fail to be powerfully influenced by the moral surroundings of his early years. He comes into the world quite helpless and absolutely dependent upon those about him for nature and culture, from the very first breath that he draws, his education begins."

—*Samuel Smile.* (ख)

इसलिये अपनी सन्तान की उन्नति चाहने के निमित्त हमको सर्वथा उचित है कि उनके सामने हर घड़ी उचित आचरण करें और अच्छी बातें किया करें, उनको सदैव अच्छी संगति में रहने की बान डालें और उनके रहन सहन का बचपन ही से ध्यान रक्खें। बचपन में बालक का हृदय एक शुद्ध दर्पण के समान स्वच्छ और

(क) सन्तति माता पिताओं के गुणों को स्वभावतः ग्रहण करती है।

(ख) प्रत्येक मनुष्य की शिक्षा दीक्षा पर उसके बाल्यावस्था के धार्मिक तथा सामाजिक संगति का अटल प्रभाव पड़ता है वह संसार में नितान्त असहाय उत्पन्न होता है और अपने स्वभाव तथा शिक्षा के लिए वह अपने ज्ञातियों के आधीन रहता है। उसके उत्पन्नकाल से ही उसकी शिक्षा का समय प्रारम्भ हो जाता है।

निर्मल है, उसमें जिस प्रकार के बाहिरी रंगों का प्रतिबिम्ब पड़ेगा उसी प्रकार के रंग उसके भीतर से खिलेंगे। इस अवस्था में उसका हृदय उज्ज्वल वस्त्र के समान निर्मल रहता है, उस पर जैसे रंग के छींटे पड़ेंगे वैसे ही रंग खिलेंगे। जबतक बालक की बुद्धि एक कोमल पौधे के समान रहती है तब तक हम उसको जिधर चाहें झुका सकते हैं और उसको उत्तम फलदायक वृक्ष बना सकते हैं। प्रकृति का नियम है कि दूसरे अच्छे पेड़ की प्यूंद छोटे ही पौधे पर लग सकती है। छोटा ही पेड़ बड़े पेड़ से रस ले सकता है। दोनों बड़े बड़े पेड़ों की आपस में प्यूंद नहीं बन सकती है। बालकपन में ही हम जिस तौर पर चाहें अपनी सन्तति को संसार-यात्रा पूर्ण करने के लिये तय्यार कर सकते हैं। बालकपन से ही इनको सांसर्गिक कुसंस्कारों से बचा कर सन्मार्ग पर ले जाना चाहिये, परन्तु इनके जीवन को आनन्दयुक्त बनाने के लिये पहले इस बात का निश्चय कर लेना अत्यावश्यक है कि किस समय में इनके कौन से संस्कार होने चाहिएं। बालकों को गर्भाधान से लेकर जीवन पर्य्यन्त अपने देश के आचार तथा सामाजिक रीति के अनुसार सब प्रकार के संस्कार यथासमय विधिवत् करना कल्याणकारक है। इनके पैदा होते ही इनके पालन पोषण आदि का विशेष ध्यान होना चाहिये और लगभग ७ वर्ष तक इनको अपनी माता के साथ पूरी स्वतन्त्रता रहनी उचित है जिससे इनके प्रत्येक अङ्ग पूर्णतया पुष्टता पा लेवें, परन्तु छोटी दशा से ही माता पिता इनको विद्या के उचित संस्कार डालते रहें।

फिर इनको गुरुकुलों में रख कर शनैः शनैः विद्या की ओर इनकी रुचि बढ़ानी चाहिये। ऐसी कोमलावस्था में इन पर सहसा किसी प्रकार का दबाव देने से इनकी मानसिक और शारीरिक उन्नति के रुक जाने का अधिक भय होता है। अपनी सन्तान को वीर बनाने के लिये इनकी मानसिक शक्तियों को बढ़ाने का विशेष ध्यान रखना चाहिये। इस अवस्था में उनको उनकी मानसिक शक्ति बढ़ाने वाली ब्रह्म विद्या, देश के वीरों का इतिहास और अन्य उत्तम व्यवहारिक विद्याएं पढ़ाई जानी ठीक है। किसी वीर सन्तान को तय्यार करके देश की सेवा में छोड़ देने से माता पिता अपने सांसारिक ऋण से छुटकारा पा सकते हैं। जिस घर से देश के उद्धार करने वाली

वीर सन्तान निकलती है वह घर पवित्र हो जाता है। माता पिता कृतकार्य्य हो जाते हैं और वह देश पुण्यवान हो जाता है। वीर सन्तान को जनने वाली वीर माताओं को तय्यार करना भी गृहस्थी का ही कर्तव्य है। चाहिये कि कन्याओं को योग्य माता बनाने के लिये उनको पुत्रवत् उचित शिक्षा दी जाय। छोटे बालकों को वीर बनाने के लिये जितनी आवश्यकता वीर माता पिताओं की है उससे दुगुनी अधिक आवश्यकता योग्य शिक्षक की है। योग्य शिक्षक ही बालकों को अच्छी शिक्षा दे सकते हैं। बालकों की अवस्था अपने माता पिता के पास रहने की तो ७ वर्ष पर्य्यन्त ही नियत की गई है, परन्तु गुरू के पास रहने का उससे दुगुना समय है। अपने माता पिता से तो वह ऐसी छोटी अवस्था तक कुछ अति कोमल संस्कार को ही ग्रहण करता है, परन्तु अपने गुरू से सारी शारीरिक मानसिक और व्यावहारिक विद्याएं सीखता है जिसकी शिक्षाओं के अनुकूल वह अपना समस्त जीवन व्यतीत करता है। अपने बालकों को उचित शिक्षा देने वाला योग्य गुरू ढूंढ़ना भी माता पिताओं का ही कर्तव्य है। शिक्षक शान्तचित्त, प्रेमी और परमार्थी होना चाहियेः—

ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः।
अहेतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम्॥(क)

—श्रीमच्छंकर

उनकी बालकों को शिक्षा देने की परिपाटी भी अति मधुर और सुगम होनी चाहियेः—

"And while with tones of sportive tenderness,
He answered all its questions and asked others.
As simple as its own, yet wisely framed;
To wake and prove an infant's faculties;
As though its mind were some sweet instrument,
And he, with breath and touch were finding out

(क) ब्रह्मनिष्ठ विना काष्ठ संयोग अग्नि के समान शान्त स्वभाव वाला और अकारण दयावान, शरणागतों का श्रेयष्कर शिक्षक श्रेष्ठ है।

What stops or keys would yield the richest music."

—*Montgomery*. (क)

शिक्षा देते समय बालक को किसी प्रकार का भी भय दिखलाना अति हानिकारक है। किसी हीन क्रूर व्यवहार से उसकी मानसिक और शारीरिक शक्तियां अत्यन्त निर्बल हो जाती हैं और बालक विद्या से घृणा करने लगता है। प्रेम में तो बहुत बल है। प्रेम के बल से पशु तक को अच्छी अच्छी बातें सिखाई जा सकती हैं, मनुष्य तो स्वाभाविक ही विवेकशाली प्राणी है। प्रथमावस्था में बालकों को विशेषतः वही विषय पढ़ाये जाने चाहिएं जिन पर उनकी स्वाभाविक रुचि हो। अरुचि के विषय पढ़ा देने से उनको लाभ नहीं पहुंचता है। बालकों को प्रथमावस्था में किसी एक मुख्य विषय में आचार्य हो जाना थोड़ा थोड़ा बहुत से विषय जान लेने से लाख दर्जा अच्छा है। एक विषय को अच्छी तरह जान लेने वाला ज्ञानी सब विषयों का रहस्य जान लेता है। एक ही शास्त्र को भी अच्छी तरह जान लेने से विद्यार्थी की बुद्धि के किवाड़ खुल जाते हैं, उसकी ज्ञान दृष्टि बढ़ जाती हैं और वह अपने बाहर भीतर सम्पूर्ण सृष्टि को आनन्दमय देखता है। वास्तव में विद्याध्ययन का यही फल है। हमारी विद्याएं केवल हमारी आन्तरिक शक्तियों को जागृत करने वाली और हमारे आनन्द को बढ़ाने वाली होती हैं, न कि किसी प्रकार के वैषयिक सुख के लिये:—

"Our learning should neither be a couch to rest, nor a cloister in which to prominade alone, nor a tower from which to look down on others, nor a work-stop for gain and merchandise, but a rich armoury for

(क) योग्य शिक्षक मधुर और सरल वाणी से विद्यार्थी के प्रश्नों का उत्तर देता है और स्वयं उस विद्यार्थी के सरल प्रश्नों के समान अन्य ऐसे प्रश्नों को बड़े चातुर्य से पूछता है जिससे बालक की बुद्धि जागृत और उत्साहित हो। बालक का मन एक उत्तम सुरीले वाद्य के समान है और अध्यापक अपने स्वर की योजना से तथा हाथों की क्रिया से वाद्य के दोषों को बोध करता है जिससे उस वाद्य से उत्तम सुरीला गीत निकले।

the ennoblement of life and the glory of the creator."

—*Bacon*. (क)

बालकों को शिक्षा प्रदान करनेमें हमारा ध्यान शास्त्रों की गणना (quantity) की ओर नहीं होना चाहिये, वरन् विद्या के गुण (quality) की ओर ध्यान होना विशेष उपयोगी है। विद्यार्थियों को गुरुमुख से बहु शास्त्र केवल श्रवण करना ही कल्याणकारक नहीं होता है, बल्कि प्रथम विद्यार्थी गुरुमुख से शास्त्र को श्रवण करके उसको मनन अर्थात् चित्त में विचारे और तदनन्तर उसको निदिध्यासन अर्थात् उस शास्त्र विहित शिक्षा को अपने आचरण में लावे। इस प्रकार आचरण करने से विद्यार्थी की विद्याएं फलदायक होती हैं। प्रथम अवस्था में अपने बालकों को अपने देश की मातृ-भाषा में अनेक उपयोगी विषयों को पढ़ा देना उचित है। छोटी अवस्था में जब तक बालकों के सब संस्कार कोमल रहते हैं तब तक उनको अपने देश के इतिहास, काव्य तथा अनेक धर्म विषयों के बोध हो जाने से उनको अपने देश के प्राचीन धर्मवीर महात्माओं के जीवन चरित्र तथा देश की अनेक रीति भांति का यथार्थ बोध हो जाता है और इस प्रकार उनके चित्त में देशानुरागिता, धर्मपरा-यणता आदिक के शुभ संस्कार बाल्यावस्था ही से अंकुरित होने लगते हैं और आजन्म पर्य्यंत दृढ़ होते जाते हैं! तत्पश्चात् आवश्य-कतानुसार बालकों को समयानुकूल व्यावहारिक विषय सिखलाये जाने ठीक हैं।

बालकों को विद्याध्ययन अवस्था पर्य्यन्त दृढ़ ब्रह्मचर्य से रह कर गुरुकुलों में निवास करना अत्यन्त उपयोगी है। विद्यार्थियों के विद्याध्ययन के निमित्त पृथक गुरुकुल निर्मित किये जाने अत्यन्त आवश्यक हैं। उनके ऐसे आश्रमों में निवास होने से वे संसार के

(क) हमारी विद्याएं हमारे सुख शय्या पर विश्राम करने के निमित्त नहीं होनी चाहियें, न दिव्य भवनों में निवास करने के निमित्त न उच्च प्रासादों से इतर जनों को तिरस्कार करने के निमित्त और न अर्थोत्पत्ति तथा व्यापार के निमित्त होनी चाहिएं वरन् वे हमारे जीवन की उत्पादक हेतु और जगत्स्रष्टा परमात्मा की महिमा से परिचिय की प्रधान कारण होनी चाहियें।

अन्य हानिकारक व्यसनों से सुरक्षित रहते हैं और उनकी मानसिक शक्तियां जागृत होती रहती हैं। ऐसे निर्विकार स्थानों में उनकी ब्रह्मचर्य्य की मर्य्यादा भी दृढ़ हो सकती है। विद्यार्थियों के लिये ब्रह्मचर्य्य का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी से उनकी बल, बुद्धि और आयु की वृद्धि होती है और जीवन भर अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक सुखों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार उचित है कि २४ वर्ष पर्य्यन्त बालक दृढ़ ब्रह्मचर्य्य में रह कर गुरु सुश्रुषा आदिक अनेक धर्मों का पालन करते हुए गुरुकुलों में निवास करें, तत्पश्चात् अपने गुरुजनों की आज्ञानुसार उनका शुभाशीर्वाद ग्रहण कर अपनी रुचि के अनुकूल गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें और किसी समान वय, कुल, गुणशालिनी, संस्कारयुक्त युवती से विवाह कर उसको अपनी सहधर्मिणी बना लें। असमान वय, कुल, शील और गुण वाले स्त्री पुरुष का परस्पर संयोग हो जाने से गृहस्थ में आनन्द नहीं होता है। समान गुण और शील वाले स्त्री पुरुष ही अपने गृहस्थ रूपी रथ को निर्विघ्नता पूर्वक चला सकते हैं और गार्हस्थजन्य भार को उचित रीति से सीमा तक पहुंचा सकते हैं। ऐसे ही गृहस्थी अपने लक्ष्य साधन के योग्य होते हैं और संसार में सच्चे आनन्द वाले भी ऐसे ही गृहस्थी होते हैं। गृहस्थाश्रम में निवास करते हुए भी हमको अपने ब्रह्मचर्य्य का ध्यान रखना हमारे आनन्द का वर्द्धक है। अपनी धर्मपत्नी के संग ऋतु-काल में विधिवत् सहवास करने की भी ब्रह्मचर्य्य संज्ञा है।

ऋतावृतौ स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः।
ब्रह्मचर्य्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम् ॥(क)

अन्य ब्रह्मचर्य्य के नियम (शम दमादि) भी सब पूर्वावस्थावत् रहने उचित हैं। इस अवस्था में हमको अनेक प्रकार से नियमयुक्त रहना मङ्गलकारक है। हमारी यह अवस्था दिन के मध्याह्न के समान अति तीव्र और उत्कट है। इस समय हमारे शरीर की सब शक्तियां पूर्ण बल को प्राप्त होती हैं और काम, क्रोध, ईर्षा, अभिमानादिक

(क) नियम पूर्वक ऋतुकाल में अपनी स्त्रियों से संगति करना ही गृहस्थाश्रमियों के लिए ब्रह्मचर्य कहा गया है।

अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का भी भय रहता है। हमको इन रोगों से वचाने के लिये इस अवस्था में केवल हमारे पूर्वावस्थाओं के माता पिता तथा गुरुजनों द्वारा जागृत किये संस्कार और हमारी सद्-विद्याएं ही सहायक होती हैं, कोई अन्य प्रकार की वाहरी शक्तियां हमें इन रोगों से नहीं वचा सकती हैं। वास्तव में हमारा व्यावहारिक जीवन इसी अवस्था से आरम्भ होता है। इस समय हमको सर्वथा उचित है कि अपने जीवन की वृत्तियां निश्चित कर ले जिनके अनुकूल आरम्भ ही से अपने गृहस्थ की शैली डाल दी जाय और अपने जीवन के व्यवहार में लाई जाय और इस समय हमको अपने व्यावहारिक धर्म का बोध हो जाना भी अत्यन्त आवश्यक है। संसार में हमारे सब प्रकार के मानसिक गुण तथा धर्मादिक प्रथमावस्था में अपने घर ही से आरम्भ होते हैं और यहां ही हमारे प्रथम संस्कार भी उत्पन्न होते हैं।

"Our oradle is the starting plac';
In life we run the onward raoe."
—*Longfellow*. (क)

गृहस्थी के लिये अपने आनन्द प्राप्ति की जगह अपना ही घर है। गृहस्थी चाहे तो अपने घरों में बैठ जङ्गलों के एकान्त का आनन्द ले सकता है। सांसारिक राग द्वेष से विमुक्त रह कर गृहस्थाश्रम ही हमारे तप का स्थान है।

वनेपि दोषाः प्रभवंति रागिणाम् गृहेपि पंचेन्द्रिय निग्रहस्तपः। अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्॥ (ख)

गृहस्थी के लिये सच्चे गृहस्थ की सामग्री ही आनन्द की सारी सामग्री है। जिन घरों में ज्ञानी वृद्ध पुरुषों का सन्मान होता है उन

(क) हमारे प्रथमावस्था ही में जीवन की समस्त भवितव्यताएं प्रारम्भ होती हैं।

(ख) विषयी पुरुषों को वन में भी दोष उत्पन्न होते हैं और संयमी पुरुषों का घर में ही तपश्चरण है। विषयों को रोक करके जो सत्कर्म में प्रवृत्त होते हैं उनको गृहस्थ ही तपस्थली है।

घरों में बुद्धि का घास होता है। जिन घरों में पतिव्रता स्त्रियों का सन्मान होता है और स्त्रियां सुख पाती हैं, उन घरों में लक्ष्मी का वास होता है। जिन घरों में बालकों पर प्रेम होता है और वे सुख पूर्वक क्रीड़ा करते हैं, उन घरों में कभी आनन्द की कमी नहीं होती है। जिन घरों में नित्य अतिथियों का सन्मान होता है, उन घरों में नित्य देवताओं का वास रहता है। जिन घरों में घर के मालिक दिन को अपने परिश्रम के सुख का टुकड़ा खाकर अपने ही काम की आधी-नता में शांति पूर्वक सुवह से शाम करते हैं और रात को बेखटके चैन की नींद सोते हैं, वे घर स्वतन्त्र हैं। जिन घरों में हर घड़ी कुछ न कुछ देश की भलाई की चर्चा होती है, वे घर धन्य हैं। जिन घरों में सुवह व शाम प्रेम से ईश्वर के गुणानुवाद गाये जाते हैं, वे घर सच्चे हैं। जिन घरों में लूले, लँगड़े, अंधे, गूंगे, रोगी और अनाथ बे-खटके टुकड़ा पाते हैं और जहां गाय, बल आदि घर के अन्य, पशु प्रीति पूर्वक सुख पाते हैं, वे घर धर्मालय हैं। जिन घरों में घर के मालिक सब की कड़ी बातों को सुन कर अनसुनी कर देते हैं, वे ही सच्चे क्षमाशील हैं। जिन घरों में घर के मालिक निःस्वार्थ, निर-भिमान और निरहंकार युक्त हैं, वही गृहस्थ के सच्चे अधिकारी हैं। जिन घरों में घर के मालिक औरों को खिला कर तब आप भोजन करते हैं और पहिले औरों को सुला कर सब से पीछे आप सोते हैं और प्रातःकाल सब से पहिले आप जग कर औरों के जगाने को उपस्थित रहते हैं, वे ही सच्चे उदार पुरुष हैं और जिन घरों में घर के मालिक गृह कार्यों में अभिमान से 'जाओ! जाओ!' कह कर आज्ञा नहीं देते हैं, बल्कि सब से पहिले आप तय्यार हो सब को 'आओ! आओ!' कह कर काम में बुलाते हैं, वही घर सच्चे सम्पत्तिशाली होते हैं और वही पूर्ण ऐश्वर्य्य को प्राप्त होते हैं। ऐसे ही घर हैं जिनमें गृहस्थी आनन्द से अपने दिनों को व्यतीत करते हैं और ऐसे ही घर हैं जिनमें देश के उद्धार करने वाले वीर महात्मा पुरुष उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार संस्कारयुक्त पुरुष अपने जीवन का द्वितीय भाग अपने गार्हस्थ तथा सामाजिक धर्मों के पालन करने में निवाहते हैं। तदनन्तर उनकी तृतीय अवस्था आरम्भ होती है, इस अवस्था में मनुष्य जीवन का धर्म व्रत अत्यन्त विस्तृत हो जाता है। ज्ञानी के चित्त की उदारता बढ़ जाती है और हृदय में सच्चे धर्म का आवेश

होने लगता है, मन से भेद-भावना मिट जाती है और सांसारिक व्यवहारों से उनकी स्वतः उपरति होने लगती है। वे कर्म की पाश से मुक्त होकर अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को पहिचानने लग जाते हैं और बुद्धि के निर्मल हो जाने से सब संकल्प विकल्प आदिक मनोवृत्तियों का नाश हो जाता है।

"भिद्यते हृदयग्रंथी च्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥"(क)

ऐसे निष्ठावान ज्ञानी पुरुष अपने सच्चे स्वरूप को पहिचान जाते है और वह अपने समाज अपने गृहस्थ और देश के अन्य खण्डों, बल्कि सारे विश्व को अपना ही स्वरूप देखते हैं और सर्वत्र में अपनी ही आत्मा को व्याप्त देखते हैं। ज्ञानी स्वयं संसार के भय शोकादिकों से मुक्त रहता है।

"तरति शोकमात्मवित्"(ख)

इस अवस्था को प्राप्त हुए ज्ञानी जीवन मुक्त होकर संसार में निःशंक हो विचरता है। परन्तु पूर्व संस्कारानुकूल जीवनमुक्त ज्ञानियों के दो भेद माने जाते हैं। एक तो वह है जिनकी मनोवृत्तियों का परमात्मा के साथ अखण्डरूप से योग हो जाता है और उनके चित्त में आनन्द का प्रवाह अत्यन्त बढ़ जाने से उनका देहाध्यास छूट जाता है और शरीर लोष्ठवत् निष्प्रपंच होकर ज्ञानी स्वयं जड़वत् संसार में विचरता है, परन्तु उनके द्वारा संसार का कोई उपकार नही होता है:—

"जड़वत् बालवत् योगी विचरेत महीतले" (ग)

(क) असंभावना और विपरीत-भावना रूप हृदय ग्रन्थि और संशय विपर्यय तथा ऐहिक आमुष्मिक लोक सम्पादक कर्म, उस परब्रह्म परमात्मा के साक्षात् अनुभव होने पर यह सब नष्ट हो जाते हैं।

(ख) आत्म साक्षात्कारानन्तर निःशेष शोक मोहादि से आत्मज्ञानी निर्मुक्त हो जाता है।

(ग) ज्ञानवान जड़ के तथा बालक के समान भूतल में निरभिमान विचरण करते हैं।

दूसरे जीवनमुक्त पुरुष वे हैं जिनकी मनोवृत्तियों का अखण्ड रूप से परमात्मात्मा से योग तो रहता है और उनकी मनोवृत्तियों का आनन्द के प्रवाह के साथ लय हो जाने से उनका देहाध्यास भी छूट जाता है पर साथ ही जगद्रूप दृश्य परमात्मा की सेवा भी करते रहते हैं और एवं संसार का उपकार भी करते हैं।

उनको इस परमार्थ साधन के निमित्त स्वयं कोई प्रपंच नहीं रचना पड़ता है, वरन् उनको तत्व प्रसाद अधिक बढ़ जाने से प्रकृति के साथ एकता हो जाती है और जिस प्रकार शरीर में प्राणों का व्यापार, नाड़ियों में रुधिर का संचार, शरीर के प्रत्येक अवयवों की वृद्धि और अन्नादिकों का पाचन, पृथ्वी पर जल वायु आदि का प्रवाह, आकाश में सूर्य्य चन्द्र आदिक नक्षत्रों की गति इत्यादि इत्यादि प्रत्येक व्यवहार स्वतः होते रहते हैं, इसी प्रकार विना किसी भांति की प्रेरणा के उनके शरीर के द्वारा स्वतः संसार का उपकार भी होता रहता है।

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तः वसन्तवल्लोक हितं चरन्तः। तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनानहेतु-नान्यानपितारयन्तः॥—श्रीमच्छंकर(क)

तत्पश्चात् ज्ञानी की चतुर्थ अर्थात् अन्तिम अवस्था होती है, जिससे ज्ञानी को संसार का ज्ञान मात्र भी नहीं रहता है और ज्ञानी संसार में केवल साक्षी मात्र सुषुप्ति अवस्थावत् परमानन्द का अनुभव करता रहता है। अन्त को तुर्य्यावस्था में निश्चेष्ट होकर "अहं ब्रह्मास्मि" प्रणव चढ़ाये हुए स्वतः सच्चिदानन्द ब्रह्म में लय हो जाता है, यही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है।

सम्प्राप्येन मृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य-धीराः युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥ वेदा-न्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्यास-योगाद्य-

---

(क) इसकी व्याख्या प्रथम खंड में हो चुकी है।

तयाः शुद्धसत्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ यथानद्यास्यन्दमाना समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥(क)

॥ इति जीवनादर्शे तृतीयः खण्डः ॥

॥ परिसमाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

ॐ आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्च्चसीजायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योतिव्याधी महारथो जायतान्दोग्ध्रीधेनुर्व्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषाजिष्णूरथेष्टाः सभेयो युवास्य यजमानस्य व्वीरोजायतान्निकामे निकामेनः पर्जन्योव्वर्षतु फलवत्योनऽओषधयः पच्च्यन्तांऽय्योगक्षेमोनः कल्पताम् ॥ ॐ शान्तिः ३ ॥

(ग) आत्मैकत्व विज्ञान से तृप्त (उपरत) निर्विषयेन्द्रिय अतः अत्यन्त प्रशान्त चित्त वाले ऋषि (आत्मवेत्ता) सर्वव्यापी आत्मा को सब ओर से प्राप्त होकर देहपरित्यागानन्तर सब को ही प्राप्त होते हैं। सर्व कर्म परित्याग रूप सन्यास से शुद्ध ज्ञान बल वाले तथा वेदान्तजनित विज्ञान से सुनिश्चित ब्रह्मतत्वार्थ वाले महात्मा देह परित्याग समय में ब्रह्मीभूत होते हुए संसार के बन्धनों से निर्मुक्त होकर घटाकाशवत् अपने कारणरूप चिदंश में तदाकार हो जाते हैं। जैसे नदियां बहती हुई समुद्र में अस्त अर्थात् अविशेषात्मभाव को प्राप्त होती हैं, इसी प्रकार ब्रह्मनिष्ठ (अध्यात्मवेत्ता) विद्वान् विकृत नामरूपादि उपाधि को त्याग कर परात्पर दिव्यस्वरूप शुद्ध ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। इति शिवं ॐ ।

परिशिष्ट

॥ ॐ वेदपुरुषायनमः ॥

भगवन्! इसमें कोई विप्रतिपति नहीं कि समस्त प्राणीवर्ग स्वभावतः अपने अर्थ श्रेय अर्थात् आनन्दोपलब्धि और दुःखनिवृत्ति की अहर्निश इच्छा रखता है और इन दोनों के प्राप्ति परिहार निमित्त यथा सम्भव उपाययुक्त भी रहता है किन्तु कृतकार्य्यता तथा परम शान्ति को कदाचित कोई विरले ही विवेकी पुरुष प्राप्त होते हैं, जो कि यथोचित उपायशाली हैं।

वह उपाय प्रथम वैदिक, लौकिक भेद से दो प्रकार का है। उसमें वैदिक उपाय ऋगादिसंहिताचतुष्टय-मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् भेद से अनेक प्रकार विभक्त हैं-दूसरा लौकिक भी पौराणिक, तांत्रिक भेद से नाना प्रकार का है। इस प्रकार कर्मजाल, देश-काल अधिकार, अधिकृत, शेष, शेपीपरत्व, बहु विस्तृत होने से साधन सुगम के हेतु कारुणिक तथा उपकारशील पूर्व्याचार्य्यों ने लोकोपकारार्थ आम्नाय को कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड ऐसे तीन स्कंदों में विभक्त किया है। तहां मंत्र भाग, यज्ञ प्रयोगार्ह द्रव्य देवताओं का प्रत्यायक होने से कर्मकाण्ड है और मंत्रोदित अर्थ की कर्तव्यता का साधक होने से ब्राह्मण भाग भी तन्मूलक ही है और यथायर्थं उपासना तथा ज्ञान का निरूपक होने से उपनिषद् भाग, ज्ञानकाण्ड कहा जाता है, तहां देशकालावच्छिन्न परत्व से कर्मकाण्डोदित—

"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्" "राजा राजसूयेन स्वर्गकामो यजेत्" "श्येनेनाभि चरन् यजेत्" "अपाम् सोम अमृता अमूम्"

इत्यादि कर्माभ्यास स्वर्गादि फल साधक है। उनमें किसी का आवान्तर प्रलयावधि किसी का आत्यन्तिक प्रलयावधि नाश भी है। अर्थात् यह विवेक है कि—

यद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवममुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" "परीक्ष्य लो-

कान् कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेद मायान्नास्त्य कृतः कृते नेत्यादि श्रुतयः"

जब कि कर्म सम्पादित स्वर्गादिक ही अशाश्वत और परिमित हैं तो उनका भोग अपरिमित और शाश्वत कैसे हो सकता है—

ते तम्भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके वसंति" इति स्मृते ॥

"नाकस्य पृष्ठे ते सुकृते नु भूत्वेमं लोकं हीनतरं चाविशंति" इति श्रुतेः ।

"यद् कृतकं तदनित्यं" इति व्यासेश्च इत्यादि, अनेकशः श्रुति स्मृति व्याख्यादिक कृतिजन्य सुखादिक को अनित्यत्व रूप से प्रतिपादित करती हैं तस्मात् सिद्ध होता है कि कर्मकलाप स्वयं शातिशय होने से निरतिशय अक्षय्य सुख का साधक नहीं ।

ऐसा कहने का यह भाव नहीं कि कर्मकलाप अविद्यात्मक होने से उपेक्षणीय ही हो, ऐसा नहीं प्रत्युतः संयमितेन्द्रिय होकर वाह्य रूपादि विषयों से उपरत तथा निःसंग होता हुआ अन्तर्विशुद्धि के अर्थ निष्काम वेद विहित कर्माचरण करता ही रहे क्योंकि—

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजिविषेच्छतꣳ समा
एवं त्वयि नान्यथे तोस्ति न कर्म लिप्यते नरे।"

जिसमें क्रमशः विषयों की निवृत्ति होती हुई अन्तःकरण शुद्ध और प्रवृद्ध हो, इस कारण निष्काम वेद विहित कर्माचरण से अन्तःकरण की जो दो शक्ति (आवरण और निक्षेप) हैं उनका उच्छेद होता हुआ अन्तःकरण (बुद्धि प्रतिफलित चिदाभास) धौतादर्शवत् निर्मल और भास्वर होगा जिसमें आत्मदेव जी साक्षात् क्रीडा करते हुए विदित होने लगेंगे अतः केवल आत्मविशुद्धिपर्य्यंत कर्म अत्यन्तावश्यक है अर्थात् ज्ञानोपयोगी होने से कर्तव्य है ।

"महायज्ञैश्च दानैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः" इति स्मृतेः"

"यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्काराः" इति मीमांसायाः

इस प्रकार निष्काम वेदोक्त कर्म करने से शुद्धान्तःकरण में आत्मसाक्षात्कारानन्तर कर्म, विषयों के करण संघात को उपरम

करके आप भी उपरत हो जाता है। अब इसमें प्रश्न होता है कि कर्म स्वयं अविद्यात्मक होने से अविद्या मूलक आवरण तथा निक्षेप शक्ति को कैसे उच्छेद कर सकता है इत्यादि तो इसका उत्तर सर्वसाधारण को निःसंशय प्रत्यक्ष अनुभव ही है कि सजातीय का सजातीय उच्छेदक होता है, जैसे दुग्ध में प्रयोग किया हुआ दधि दुग्ध को रूपान्तर (दधि) करके और आप भी तदाकार हो जाता है। वृश्चिक से डसे हुए अङ्ग में प्रयोग किया हुआ संखिया (विष) वृश्चिक जन्य विष को प्रशमन करके आप भी प्रशमित हो जाता है और हस्त पादादि में प्रविष्ट हुए कांटे को निकालने के लिए दूसरा कांटा अपेक्षित होता है। अङ्ग संलग्न कांटे को निकालने के अनन्तर दूसरा कांटा भी निरपेक्षित होकर उसी के साथ फेंक दिया जाता है।

इसी प्रकार निष्काम कर्मचारी के अनाद्यविद्यात्मक विषय भी वैदिक कर्माचरण से क्षीण होकर विशुद्धान्तःकरण में आत्मसाक्षात्कारानन्तर कर्म भी क्षीण हो जाते हैं, तस्मात् ज्ञानोपयोगी कर्म मुमुक्षु को भी निर्विकल्पावस्था पर्य्यन्त कर्तव्य है और ग्रन्थकार का लक्ष्य त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिपूर्वक निरतिशयानन्दावाप्ति रूप है, यही चरम काण्ड ज्ञानकाण्ड का स्वरूप है। अब जिज्ञासा होती हैं कि निरतिशयानन्द का साधक—क्या वस्तु अर्थात् उपाय है? यही जिज्ञासा मनुष्य के मनुष्यत्व की सम्पादिका है और यही इस ग्रन्थ का उद्देश्य भी है तथा इस ग्रन्थ में कथित अन्यान्य विषय भी उक्त उद्देश्य के साधक अथवा अङ्ग हैं। इस प्रकार वक्ष्यमाण विषय तथा ग्रन्थोद्देश्य का अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है। उक्त जिज्ञासा का व्यतिरेक होने से तथा केवल "अहार निन्द्रा भय मैथुनानि।" इत्यादि पशुवत् मनुष्य में भी निर्विशेष होने से उभय प्रकारक पशु में भेदाभाव है, क्योंकि वैषयिक भोग द्रोह प्रेमादिक मनुष्य के सदृश पशु में भी हैं। मनुष्य में इष्टानिष्ट परिचायक केवल विवेक ही पशु से अधिक है, उसके अङ्ग नित्यानित्य भेद से वैदिक लौकिक दर्शाये गये हैं, जिसमें कर्मकाण्ड व्यवस्था संक्षेपतः दिखाई गई जिसके अनुसरण से अविच्छिन्न आनन्द प्राप्ति नहीं पाई जाती है, क्योंकि—

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकम-
मृतत्वमानशुः" इति श्रुतेः॥

अर्थात् अखण्ड निरवच्छिन्न निरतिशय आनन्द वस्तु न कर्मणा कर्म-अर्थात् लोकैषणा से न प्रजया प्रजा अर्थात् पुत्रैषणा से न धनेन धन, अर्थात् वित्तैषणा से लब्ध होने को सम्भव है। प्रत्युतः उक्त एषणात्रय के सम्यक् परित्याग से प्राप्त होने को सम्भव है। तस्मात्-

"सोऽन्वेष्टव्यः सविजिज्ञासितव्यः, आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्योनिदिध्यासितव्यः, तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" इत्यादि ॥

श्रुतियां उस अमृतत्व निरतिशयानन्द को प्रतिपादन करती हैं जो कि नित्य अलभ्य निर्विकार आनन्द स्वरूप है जिसका अपनी हृदयगुहागत प्रत्यगात्मरूप परिज्ञान होने से यावत् सांसारिक अनर्थ हैं उनसे नलिनीदलगतजलवत् निर्लिप्त हो जाता है। इस प्रकार विवेकी पुरुषों की जो सर्वोत्तम उर्ध्वगति होती है वही नीचे लिखी श्रुति कहती है।

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। ते सर्वगं सर्वतः प्राप्यधीराः युक्तात्मानः सर्वमेवाविशंति॥ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे, न तस्य प्राणा उत्क्रामंते न स भूयोभिजायते न स पुनरावर्तते ॥

अर्थात् वह जो सुख स्वरूप अखण्ड निर्विकल्प ज्योतिर्मय सब का अपना आप आनन्द स्वरूप उसको प्राप्त होकर पुनः जगद्भुजङ्ग के मुख में प्रविष्ट नहीं होता है, उस प्रत्यगात्मा को तदाकार होकर सभन्ततः प्राप्त होते हैं।

आशा है कि सर्वोपकारक इस निबन्ध जीवनादर्श के उद्देश्य पर महानुभाव विवेकी पुरुष अपनी सरलता गुणज्ञता का परिचय देते हुए निबन्धक (ग्रन्थकर्ता) को उत्साहित करेंगे।

भवदीय,

नारायणदत्त नौटियाल शर्म्मा,

टिहरी, गढ़वाल।

ॐ

जीवन-लक्ष्य

परमानन्द

परमानन्द के साधन

- **अन्तःकरण**
  - **चित्त** — पवित्र और शुभ आस्तिक भावनाएँ यथा—प्रेम, भक्ति, उदारता, दया आदि
  - **मन** — उच्च आशयों पर विचार तथा मनन यथाः— सामाजिक, मानसिक, धार्मिक आदि
  - **बुद्धि** — लौकिक और पारमार्थिक ज्ञान की प्राप्ति
    - **स्वाध्याय**— धार्मिक, मानसिक, ऐतिहासिक तथा लौकिक कला-कौशल सम्बन्धी विषय
    - **सत्संग और यात्रा**
    - **आकस्मिक गलतियां और आपत्तियां**
  - **अहंकार** — क्रोध, ईर्षा, दंभ, अभिमान आदि दोषों का दमन
  - **आत्मा** — अन्तःकरण और बाह्य परिस्थितियों से आत्मा को पहिचानना
- **बाह्य परिस्थिति**
  - **अपना स्वस्थ शरीर** — पवित्र सात्विक भोजन, शुद्ध जल वायु सेवन, व्यायाम, ब्रह्मचर्य्य, मादक-सेवन-निषेध तथा शारीरिक यम नियमों का पालन
  - **निज अनुकूल-परिवार तथा अन्य जंगम संसार**
    - **अहिंसा** — मन, कर्म और वाणी से निरपराध जीवों को दुःख न देना
    - **सहानुभूति**
      - **शरीर से** — दरिद्र, अनाथ, दुर्बल व्यक्ति तथा नीच पशुओं की सहायता और रक्षा
      - **बुद्धि से** — सदुपदेश तथा लेख द्वारा
      - **धन से** — उपयुक्त दान
  - **स्थावर संसार** — प्राकृतिक दृश्य यथा—सुन्दर सुहावने हरे भरे बाग बगीचे, निर्मल जल से भरे हुए नदी नाले, झील आदि तथा सुन्दर पर्वतश्रेणी तथा उपयुक्त धन

(जीवनादर्श के लेखक)

पं० ज्योतिः शरण रतूड़ी शर्म्मा,
(गोदि) टिहरी, गढ़वाल।

सुदर्शन प्रेस, प्रयाग।

प्रशंसा पत्र

प्रियवर ज्योतिःशरण रतूड़ी,

आपका अपने विचारों से जीवनादर्श नाम का निवन्ध निर्मित किया हुआ मैंने पढ़ा। मुझे इसके पढ़ने से अत्यन्तआनन्द हुआ। इस प्रकार के पवित्र विचार मनुष्य के मन शान्ति के लिये परमोपयोगी होते हैं। जहां तक देखा गया, यह शास्त्रीय शैली अर्वाचीन रीति पर लिखी गई है। इस पुस्तक के तीनों विभाग का क्रम इस समय के अनुसार उपयोगी है। प्रथम विभाग में मानसिक व्यवहारोन्नति, क्योंकि मन की विशुद्धता ही प्रत्येक कार्य्य के करने में प्रथम साधन है। द्वितीय विभाग में शारीरिक विचार और तृतीय में लौकिक व्यवहार है, इनमें नैतिक विषय परमोपयोगी है। आप इसको प्रकाशित कर समाज के उपकार को वढ़ावें। आपके इस परिश्रम से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूं।

आपका शुभेच्छु,

१६ मई १६१३ — हरिकृष्ण रतूड़ी, वज़ीर,

रियासत टिहरी,

गढ़वाल।

When staying at Uttarkashi—a place of Hindu pilgrimage in the Himalayas, midway between Mussoorie and Gangotri–I have met Pandit Jyotih Sharan

who has come up from his native village near Tehri to visit me. He has brought the manuscript of a book in Hindi, which he intends to publish and desired me to read it through. I have only time to go through the first of the three parts of the book. I am leaving for Gangotri to-morrow. As far as I have been able to judge, this excellantly written thesis on the higher aim of life will be a welcome addition to Hindi literature. It is written in Hindi as a treatise on this subject has necessarily to be so written.

English quotations from standard authors bearing on the subject are freely interspersed in the essay. The English knowing Hindi readers will greatly benifit from these happy quotations. I have no doubt that the Hindi reading public will welcome this addition to their beloved Hindi.

Dated Uttarkashi, the 29th. May, 1213. } S/d, Mahamahopadhyaya,

Aditya Ram Bhattacharya, M. A.

of Allahabad.

पं० ज्योतिः शरण की बनाई हुई जीवनादर्श नामी पुस्तक मैंने देखी। इसके तीन खण्ड हैं–मानसिक व्यवहार, शारीरिक व्यवहार और तीसरा लौकिक व्यवहार। ये तीनों शिक्षा-प्रद और बहुत ही उत्तम हैं। ऐसी पुस्तक की इस समय में बहुत ही आवश्यकता थी; सो इन्होंने पूर्ण की। यह पुस्तक लौकिक और पारलौकिक दोनों

अर्थ की साधक है, सो जो व्युत्पन्न होगा उसकी समझ में आ सकेगा। दूसरे इस पुस्तक से यह भी ज्ञात होता है कि ग्रन्थकर्ता विज्ञ और अनुभवी हैं।

१० अक्टूबर १९१३ ह०—पं० शिवनारायण
हेड पण्डित, मेयो कालेज, अजमेर।

श्री टिहरी राज्याश्रित पं० श्री ज्योतिःशरण रतूड़ी लिखित "जीवनादर्श" सचमुच प्राचीन हिन्दू जीवन का आदर्श ही है। विशेषतः जो लेखक ने पाश्चिमात्य विद्वानों के प्रमाणों से सनातन हिन्दू रीति का समर्थन किया है, सो नवयुवकों के लिये और भी शिक्षाप्रद तथा रुचिकारक है। वर्तमान समय में ऐसी ही पुस्तकों से सर्वगुण आगरी देवनागरी के भण्डार की शोभा और सर्वसाधारण में सदाचार की वृद्धि हो सकती है। यदि लेखक महाशय इसी प्रकार से अपनी गम्भीर लेखशैली से कुछ और भी लिखते रहेंगे तो एक न एक दिन वे सच्चे मातृ-भाषा तथा स्वदेश और स्वजाति के सेवक सिद्ध होंगे। मुझे इस पुस्तक से बड़ी प्रसन्नता हुई है और मैं शुद्धान्तःकरण से इसका प्रचार चाहता हूं।

ह०—पञ्चाम्बु-भूषण बुलाकीराम विद्यासागर
१६ अक्टूबर १९१३ शास्त्री, मेयो कालेज, अजमेर।

पं० ज्योतिःशरण रतूड़ी रचित "जीवनादर्श" के तीनों भागों को देख कर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। इसमें ग्रन्थकर्ता की तत्व ज्ञान की तरफ प्रवृत्ति मातृ-भाषा की सेवा की ओर चेष्टा तथा अपने अनुभव से जनसाधारण को उपकृत करने की इच्छा स्पष्ट होती है। हिन्दी में ऐसे ग्रन्थों का लिखा जाना बड़े सौभाग्य की बात है, इसी लिये इसको मुद्रित देख कर मैं और भी प्रसन्न होऊंगा।

स्थान स्थान पर यह झलकता है कि ग्रन्थकर्ता ने न केवल बहुत पढ़ा है, वरन् पढ़ कर उसका मनन भी किया है और उसका उपयोग

यथासमय और यथोचित किया है। जो विचार इसमें प्रकाशित किये हैं वे आदरणीय और उपादेय हैं और वर्तमान समय के बहुत से विचारास्पद प्रश्नों पर जो कुछ ग्रन्थकार ने लिखा है वह उसकी स्थिर मति और विज्ञान से उत्पन्न हुआ है। हिन्दी में यह उनकी पहिली कृति होने से भाषा में कुछ नवीनता, क्लिष्टता तथा अपरिमार्जितता है, परन्तु यह मूल के विषय-गौरव के सामने ध्यान देने योग्य नहीं है, क्योंकि:—

"उक्त विसेषो कव्वो भाषा जा हो सा हो"

मेयो कालेज, अजमेर
१ दिसम्बर १९१३

ह०—पं० चन्द्रधर शर्म्मा बी० ए०,
गुलेरिया, जयपुर।

॥ ओ३म् ॥

श्री पण्डित जी नमस्ते! श्री सभा की तरफ से व्याख्यानार्थ निमन्त्रित होने के कारण मुझको कुम्भ पर जाना पड़ा, इस कारण आपकी कृपा पूर्वक भेजी हुई पुस्तक जब तक देख न सकी। उसके पश्चात् अब मैंने इस पुस्तक का जल्दी में कुछ थोड़ा सा अवलोकन किया है।

सब ऋषि महर्षियों ने मनुष्यों के हितार्थ जीवन के आदर्श को बताया है। इस विषय के अनेक दर्शन और सैकड़ों पुस्तकें संस्कृत साहित्य में उपस्थित हैं और वस्तुतः अगर इसका भाष्य कोई सम्पूर्ण बनाना चाहे तो अति विस्तृत हो जाय। यह विषय अत्यन्त गहन है और इसका यथार्थ समझना और समझ कर तदनुकूल आचरण करना तो अत्यन्त मुशकिल है! तथापि यह लेखन प्रकार से मालूम होता है कि आपने इस विषय पर खूब विचार किया है और महात्माओं के ग्रन्थों और कतिपय महात्मा स्वामी रामतीर्थ जी जैसे आदिकों की सत्सङ्गति का लाभ उठाया है, जिस कारण गहन विषय भी सरलता पूर्वक वर्णन किया गया है। एक बात इसमें जो सब से उत्तम और समयोचित सर्वजनीन आपकी लेखनी से निकली है वह मुझको अत्यन्त प्रिय तथा लाभदायक ज्ञात हुई है—आजकल

जिस वेदान्त का लोगों में प्रचार हो रहा है वह मनुष्यों को बहुत कुछ सन्मार्ग से हटा देता है और सच्चे वेदान्त से घृणा कराता है। किन्तु इस पुस्तक जीवनादर्श के दर्शन में जो वेद सिद्धान्त छटा पाई जाती है, वह अद्भुत ही है जो कि इस पुस्तक के तीन विभागों मानसिक, शारीरिक, लौकिक में विभक्त की हुई होने से प्रकट है। अर्थात् लौकिक व्यवहार के सच्चे तथा उच्च अर्थ बता दिये हैं और गुणियों के विचारने से इस पुस्तक की महिमा और बढ़ सकती है।

हर्ष का विषय है कि ऐसी पुस्तकें अब सर्व साधारण के उपयोगार्थ आर्य्य भाषा में प्रकाशित होने लगी हैं। आशा की जाती है यदि लोगों ने उपन्यास छोड़ कर ऐसी पुस्तकों का पढ़ना आरम्भ किया तो भारत की महिमा बढ़ने लगेगी।

श्री १०८ महर्षि स्वामी दयानन्द जी कृत सत्यार्थ प्रकाश जैसा आधुनिक स्मृति शास्त्र मनुष्य समाज के उपयुक्त होने पर भी आशानुकूल न अपनाया गया, जिसका कारण एक मात्र—

"अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः"

जिस दिन वक्ता के अनुकूल श्रोता भारत में मिलेंगे और सच्चे वैद्योंकी कड़वी दवाको सादर ग्रहण करेंगे तभी सच्ची उन्नति होगी।

पण्डित जी की स्त्रियों के विषय में सुतर्कित युक्ति युक्त प्रमाणों द्वारा सिद्ध की गई। स्वतन्त्र सम्मति वस्तुतः लोक की हित की दृष्टि से लिखी गई है। सज्जनों को अवश्य ही इस पर विचार कर अपने घरों को पवित्र बनाना चाहिये। हम सर्व शक्तिमान परमात्मा से प्रार्थना करती हैं कि पण्डित जी के उच्च विचार स्वदेश प्रेम इस पुस्तक द्वारा मनुष्यों के लिये सुफल हों।

अन्त में हम यह बता देना चाहती हैं कि यह पुस्तक केवल संग्रह पुस्तक नहीं है, वरन् बड़े पुरुषार्थ व अनेक वर्षों पण्डित जी के उत्तराखण्ड जैसी प्रसिद्ध तपो भूमि में लोक हितार्थ किये गये, तप का फल है और पढ़ने वालों को स्वयं पण्डित जी के विचार स्वातन्त्र्यादि सद्गुणों का परिचय मिल सकेगा।

हस्ताक्षर—सत्यवती शास्त्रिणी,

देहरादून १-५-१५।